CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

34-cy

शोध

[साहित्य - संस्कृति - गवेषणा - प्रधान पत्रिका]

२

सम्पादक

डॉ० बनारसी प्रसाद भोजपुरी : डॉ० राजाराम जैन

२०३८-३९ विक्रमाब्द : १९८१-८२ खृष्टाब्द

नागरी - प्रचारिणी सभा
आरा (भोजपुर : बिहार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान वाराणसी को सादर
राजाराम जैन
१.२.८५

शोध

[साहित्य-संस्कृति-गवेषणा-प्रधान पत्रिका]

[२]

प्रेमचन्द-अंक

सम्पादक

डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी : डॉ० राजाराम जैन

नागरी-प्रचारिणी सभा

आरा (भोजपुर : बिहार)

२०३८-३९ विक्रमाब्द : १९८१-८२ खृष्टाब्द

प्रस्तुत प्रति का मूल्य : पन्द्रह रुपये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-प्रस्तुति

सम्पादकीय टिप्पणियाँ : १

- **श्रीमती महादेवी वर्मा :**
  प्रेमचन्द की प्रासंगिकता : ११
- **डॉ० शिवकुमार मिश्र :**
  साम्प्रदायिक सौहार्द का सवाल और प्रेमचन्द : १६
- **डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी :**
  यथार्थ के विकसित सन्दर्भ और प्रेमचन्द के उपन्यास : २९
- **श्रीअरविन्द कुमार :**
  प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा और आज का साहित्य : ४५
- **डॉ० महावीरसरन जैन :**
  प्रेमचन्द के उपन्यासों में भाषिक प्रयोग : ५४
- **प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव :**
  प्रेमचन्द का सूक्ति-सौन्दर्य : ६१
- **डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी :**
  प्रेमचन्द और 'काशी-साहित्य-मण्डल' : ६७
- **श्रीरामनिहाल गुंजन :**
  प्रेमचन्द की कहानियों का सामाजिक आधार : ७३
- **डॉ० महेन्द्र गोस्वामी :**
  प्रेमचन्द का आदर्श किसान : होरी : ८१
- **श्रीधर्मेन्द्रकुमार तिवारी :**
  प्रेमचन्द-साहित्य पर गान्धी-विचार का प्रभाव : ८४
- **डॉ० विद्यावती जैन :**
  मानवीय मनोव्यथा का महान् चितेरा : मुंशी प्रेमचन्द : ९०
- **डॉ० राजाराम जैन :**
  मुंशी प्रेमचन्द : पत्रों के वातायन से : ९४

पत्र : प्रतिक्रियाएं : डॉ० वासुदेवनन्दन प्रसाद : ९९

श्रद्धार्पण : सम्पादकीय : १०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

316-५५

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

'शोध' का द्वितीय अंक :

हम बहुत ही उत्साह और प्रसन्नता के साथ 'शोध' का दूसरा अंक प्रस्तुत कर रहे हैं। 'शोध' के प्रथम अंक को पाठकों ने आदर के साथ अपनाया है और अपने मूल्यवान् विचार भेजकर हमारा उत्साह बढ़ाया है। हम उनके प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

हमने अपने विचार 'शोध' के प्रथम अंक में प्रकट किये हैं। हमारा विचार है कि नवयुवक लेखक शोध की दिशा में अग्रसर हों और अपने जिले के उन गुप्त तथ्यों का पता लगायें और प्रकाश में लाने की चेष्टा करें, जिनका बहुत बड़ा मूल्य है। भोजपुर का प्राचीन इतिहास गौरवपूर्ण रहा है। इस भूमि में अनेक रत्न बिखरे हैं। समरभूमि में योद्धाओं की करामातें, साहित्य के क्षेत्र में मूल्यवान् उपेक्षित रचनाएँ; विद्या के प्रचार के क्षेत्र में विहारों की शृंखलाएँ तथा अध्यात्म के क्षेत्र में आध्यात्मिक विचारों से परिपूर्ण भोजपत्रों और ताड़पत्रों के बिखरे हुए पन्ने हमारे लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। यदि उन सभी भूली हुई सामग्री को एकत्रित कर उनपर शोध-प्रबन्ध तैयार किया जा सकेगा, तो 'शोध' उनका स्वागत करेगा और सहर्ष अपने पृष्ठों पर उन्हें अंकित कर प्रसन्नता का अनुभव करेगा। कारण, 'शोध' का उद्देश्य यही है कि उक्त सभी सामग्री को प्रकाश में लाया जाय, जिसे हम इसलिए नहीं जानते कि वह उपेक्षित है।

साहित्य और राजनीति :

विचारकों ने साहित्य की अनेक परिभाषाएँ बताई हैं। किसी ने शब्दाडम्बर को साहित्य बताया है, तो किसी ने सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने की कला को। उसी प्रकार किसी ने अनुभूति को साहित्य बताया है, तो किसी ने राजनीतिक वादों के परिप्रेक्ष्य में लिखित प्रचार को। साहित्य एक व्यापक शब्द है, जिसे किसी परिधि में बाँधा नहीं जा सकता। जो भी विचार लिखित रूप में व्यक्त किये जाते हैं, चाहे उनके विषय जो भी हों, सभी साहित्य की श्रेणी में आते हैं। कुछ विचारकों का मत है कि साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ हैं—यौन और भूख। इन्हीं दोनों प्रेरक शक्तियों के द्वारा साहित्य का सर्जन होता है। यौन में आकर्षण है, शृंगार है, सहानुभूति है, करुणा है और समर्पण की भावना है। भूख में जलन है, उत्पीडन है, रुदन है और प्रतिहिंसा की भावना है। इन दोनों प्रेरक शक्तियों की दो भिन्न दिशाएँ हैं। इन दोनों प्रेरक शक्तियों के समर्थक भी कम नहीं हैं और इनसे सम्बद्ध अनेक पुस्तकें भी देखने को मिलती हैं।

प्राचीन युग में यौन से प्रेरित शृंगार रस से प्लावित अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, जिन्हें उच्च कोटि के साहित्य की संज्ञा दी गई है। भक्ति-साहित्य यौन-साहित्य की प्रेरक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्ति की परिधि से परे हैं, यह सभी विचारक मानने के लिए तैयार नहीं हैं। कारण, यौन का समर्पण भक्ति के समर्पण के सदृश है और यौन की करुणा तथा आकर्षण भक्ति की करुणा और आकर्षण से भिन्न नहीं है। इसीलिए, अनेक विचारक साहित्य की प्रेरक शक्ति यौन की परिधि से भिन्न भक्तिरस को नहीं मानते।

वर्तमान युग में साहित्य की दूसरी प्रेरक शक्ति भूख से सम्बद्ध अनेक रचनाएँ हिन्दी-साहित्य में देखने को मिल रही हैं। उनमें संघर्ष है। उन्होंने पूँजीवाद के विरुद्ध मजदूरों को उकसाया है और वर्ग-संघर्ष की सृष्टि की है। उन्होंने खुले आम राजनीति का दामन जोर से पकड़ा है और राजनीति में अनेक वादों, वर्गों तथा दलों को जन्म दिया है। भूख से प्रेरित साहित्य का एक ही रास्ता है--संघर्ष। राजनीति के माध्यम से अपने संघर्षों को शक्तिशाली बनाना और राजनीति पर एकान्त रूप से हावी होना भूख से प्रेरित साहित्य का मुख्य उद्देश्य है। राजनीति पर हावी होने का अर्थ सरकार पर हावी होना है और अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के निमित्त पारस्परिक संघर्ष को जीवित रखना है। इस जद्दोजेहाद में किसकी गोटी लाल होगी, कहना मुश्किल है।

साहित्य पर राजनीति का जब प्रभाव पड़ता है, तब वह एकांगी बन जाता है, और सरकार की बागडोर जिस राजनीतिक विचारधारा के हाथ में रहती है, वह सरकार उसकी अपनी हो जाती है और वह अपनी मनःकामना की पूर्त्ति के लिए हर चन्द कोशिश करती रहती है। भारतीय राष्ट्र आज उन्हीं राजनीतिक वादों के मण्डल के भीतर स्वार्थ की धुरी पर घूम रहा है। हम सीमान्त गान्धी अब्बुल गफ्फार खाँ द्वारा विगत सन् १९८० ई० के १ जून को श्रीनगर में किये गये भाषण के उस अंश की उपेक्षा नहीं कर सकते, जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'भारत की आज बिगड़ी हुई दशा को देखकर बहुत कष्ट हो रहा है, जब हम देखते हैं कि भारतीय राजनीति रोगाक्रान्त हो गई है और वह रोग है--राजनेताओं का राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए व्यग्र होना। राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए हम निम्न कोटि के हथकण्डों का सहारा लेते हैं और येनकेन प्रकारेण सरकार की गद्दी प्राप्त करने का सतत प्रयास करते हैं। अपने नेतृत्व को सुदृढ बनाने के लिए ये नेता सम्प्रदायवाद, जातिवाद, वर्गवाद इत्यादि को बढ़ावा देते हैं और राष्ट्र की शान्ति को भंग करने की सतत चेष्टा करते हैं। उनका स्वार्थ प्रगाढ होता है, और वे अपने राजनीतिक अधिकारों को मजबूत बनाने के लिए राजनीतिक हत्याओं को भी निष्ठुर होकर अपनाते हैं। ऐसी निम्न कोटि की राजनीति जब सरकार पर हावी हो जाती है, तब भ्रष्टाचार का उदय होता है और स्वयं सरकार भी भ्रष्ट व्यापार की वृद्धि में तल्लीन हो जाती है। वैसी स्थिति में राष्ट्र कदाचार का केन्द्र बन जाता है, और प्रत्येक व्यक्ति काला धन प्राप्त करने की कला में प्रवीण होने के लिए सचेष्ट दिखाई देता है। विधि और व्यवस्था की बातें सिर्फ मोटी-मोटी सरकारी फाइलों की शोभा बढ़ाती हैं। सरकारी और विरोधी दलों के राजनीतिज्ञ एक-दूसरे पर छींटाकशी करते हैं और अपने को सच्चे जनसेवक की उपाधि से विभूषित करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे जनता को बरगला कर अपना उल्लू सीधा करने की भरपूर चेष्टा करते हैं और अपने दलों के आदर्श सिद्धान्तों तथा कार्यक्रमों के प्रचार और प्रसार के लिए विविध साहित्य का प्रकाशन करते हैं।

यदि गौर से देखा जाय, तो यह कहने में संकोच नहीं मालूम होता कि वीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से अद्यावधि तक प्रचुर संख्या में वैसा साहित्य लिखा गया है, जिससे पारस्परिक दुर्भावना को वल मिला है, प्रतिहिंसा जागरित हुई है, सम्प्रदायवाद अट्टहास करने लगा है और वर्ग-संघर्ष को कुतरने की कला में सर्वोच्च अंक प्राप्त हुए हैं। इस पूरी अवधि में इन राजनीतिक कलाविदों के द्वारा सिर्फ एकांगी साहित्य की रचना की गई है, जिसमें किसी सिद्धान्त-विशेष या किसी स्वार्थ-विशेष की सिद्धि के लिए अनेक तर्कों से युक्त विचार पुष्ट किये गये हैं। वैसा साहित्य स्थायी नहीं होता। उससे मानसिक धरातल निर्मल, स्वच्छ और निर्विकार नहीं बनता। उससे मानव की वास्तविक प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। आज इस सचाई को नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता कि इस समय हिन्दी-साहित्य को राजनीतिक वादों से भरने की पूरी चेष्टा की जा रही है, जिस तरह पिछले वर्षों में हिन्दी-साहित्य को साहित्यिक तथा आध्यात्मिक वादों से भरने की चेष्टा की गई है। कहा नहीं जा सकता कि कितने समय तक ये राजनीतिक वाद हिन्दी-साहित्य पर अपना प्रभाव जमाते रहेंगे। पर, इतना तो कहा ही जा सकता है कि ये राजनीतिक वाद शायद ही हिन्दी-साहित्य का भाण्डार स्थायी और शाश्वत साहित्य से भर सकने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिए, हिन्दी में वैसा साहित्य अपेक्षित है, जो वोधगम्य हो और समय के फूहड़ हमले से रंचमात्र भी धूमिल न हो सके।

देश में साम्प्रदायिक तनाव : क्यों और किसलिए ?

आज भारत में यत्र-तत्र साम्प्रदायिक तनाव देखने में आ रहा है और उसे असामाजिक तत्त्वों तथा खुदगर्ज लोगों के द्वारा डरावना रूप देने की कोशिश की जा रही है। उनकी सफलता इसीमें है कि सम्प्रदाय के नाम पर एक-दूसरे पर घातक अस्त्रों के द्वारा प्रहार किया जाय, यदि मौका मिले, तो कत्लेआम के नंगे प्रदर्शनों के द्वारा शान्त वातावरण को भी अशान्त बना दिया जाय। यह साम्प्रदायिक जनून जबसे भारत पर सवार हुआ है, तबसे विभिन्न सम्प्रदायों के लोग एक-दूसरे को घृणा और शंका की निगाह से देखने लगे हैं, और पारस्परिक सद्भावना तथा विश्वास का खात्मा होता जा रहा है। प्रश्न है कि ऐसा भयानक दृश्य क्यों उपस्थित किया गया है और किसलिए।

ऐसा मालूम होता है कि धर्म, मजहब या रेलिजन के आदर्श सिर्फ धार्मिक ग्रन्थों के पन्नों में छिप गये हैं और उनके स्थान पर विभिन्न सम्प्रदाय एक-दूसरे के बीच अविश्वास की खाई खोदने में तल्लीन हो गये हैं। आज इन्हीं मजहब या सम्प्रदाय के उठते फन के जहरीले फुफकारों से भारतीय जनता भयभीत हो गई है। ये सम्प्रदायवादी आदमियत को खो चुके हैं, हिंसक ज़ानवर की तरह खूँखार बन गये हैं!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्न उठता है कि क्या धर्म इसी को कहते है और क्या धर्म प्रारम्भ से यही सिखलाता है। धार्मिक ग्रन्थों को देखने से धर्म की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दिखाई पड़ती। मनुष्य के साथ इसका क्या सम्बन्ध है, इसका स्पष्ट उल्लेख किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। धर्म के सम्बन्ध में भारतीय धर्माचार्यों ने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं। वैदिक काल से पूर्व धर्म के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विचार नहीं मिलता। वैदिक काल में वेदों की प्रधानता थी और वेदों में अंकित ज्ञान ही धर्म समझा जाता था। वैदिक काल के बाद ब्राह्मणकाल आया। यह काल ई० पू० ३१३७ से ईसवी-सन् के प्रारम्भ तक माना जा सकता है। इस काल में धर्माचार्यों ने वर्णाश्रमधर्म की स्थापना की। वर्णाश्रम चार वर्णों में विभक्त किया गया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन वर्णों के लिए अलग-अलग धर्म बनाये गये। ब्राह्मण के लिए यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना, दान देना, विद्या पढ़ना, विद्या पढ़ाना ये छह धर्म बनाये गये और इन्हीं धर्मों को कट्टरपन के साथ अपनाने के लिए उपदेश दिये गये। क्षत्रिय के लिए क्षात्रधर्म का उपदेश दिया गया। उस धर्म के अनुसार, उन्हें देश और समाज की सुरक्षा का भार सौंपा गया और सुरक्षा के मार्ग में आवश्यकता पड़ने पर उन्हें जान की बाजी लगा देने का उपदेश दिया गया। वैश्य के लिए जनसमाज को खिलाने तथा देश को समृद्ध बनाने के लिए पूर्ण प्रयास करने का उपदेश दिया गया। शूद्र के जिम्मे सेवाकार्य रखा गया, जिस तरह सारे शरीर का बोझ पैर पर है और पैर ही सारे शरीर को सुव्यवस्थित ढंग से खींच ले चलता है, उसी प्रकार शूद्र पर वर्णाश्रम-रूपी शरीर का सारा बोझ था। इस प्रकार, वर्णाश्रमधर्म सारे समाज पर छा गया। पर, जिस मकसद से वर्णाश्रमधर्म की स्थापना धर्माचार्यों ने की थी, वह पीछे चलकर धीरे-धीरे रूढि में परिवर्त्तित हो गया। ब्राह्मण श्रेष्ठ बन गये और पुरोहित बनकर यजमानों को मोक्ष और स्वर्ग दिलाने का ठेका लेने लगे। धर्म का स्वरूप विकृत हो गया।

ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध अनेक प्रहार किये गये। सबसे पहले चार्वाक ने इस धर्म पर प्रहार किया। उसका जन्म ई० पू० २४३९ ई० में हुआ था। उसने वर्णाश्रम-धर्म को बेवकूफों का मखौल बताया। उसने ईश्वर, मोक्ष, परलोक और देवी-देवताओं की पूजा-अर्चा को ढकोसला बताया तथा पाप-पुण्य को लोगों को भयभती करने के लिए मनगढन्त कल्पना बताई। पर, वह अपने प्रयास में सफल न हो सका। ब्राह्मणधर्म पर जैन, बौद्ध, सिक्ख इत्यादि धर्मों ने भी प्रहार किया। पर, वर्णाश्रमधर्म के वर्ण अपनी शक्ल बदल कर जातिधर्म के रूप में आ गये और आज भी उनका वही रूप है।

भारत में विदेशी धर्म भी आये। वे यहाँ की मिट्टी में मिल गये, फिर उगे, पनपे और पुष्ट हो गये। धीरे-धीरे उन्होंने राजनीति का जामा पहन लिया और भारत पर हमला कर शासन करनेवाले विदेशियों के अंग भी बन गये। उन्होंने अपना प्रचार विदेशी शासन का अंग बनकर किया और अपने धर्म या मजहब के माननेवालों की संख्या बढ़ाने में मशगूल हो गये। मजहबी लोगों की संख्या बढ़ाने का मकसद यही था कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मजहबी लोगों का एक दलविशेष हो, जो हंगामा कर देश पर अपना प्रभाव जमा सके। विदेशी धर्मों का मकसद करीब-करीब पूरा भी हुआ। देश का बँटवारा मजहब या धर्म के नाम पर किया गया। भविष्य में धर्म या मजहब के नाम पर क्या होगा, कहना कठिन है।

धर्म जबतक अपने वास्तविक रूप में रहता है, तबतक वह बिलकुल शान्त रहता है उससे किसी तरह का भय या आतंक उत्पन्न नहीं होता। सच तो यह है कि जिसके द्वारा मानव का कल्याण हो और उसे मोक्ष मिले, वास्तव में वही धर्म है।

आज भारत में धर्म नहीं, सम्प्रदाय है, स्वार्थी लोगों की जमात है। वे लोग धर्म, मजहब या रेलिजन की आड़ में राष्ट्र के भीतर खुराफात मचाकर राजनीतिक लाभ उठाना चाहते हैं। इसीलिए, साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न करते हैं और अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक का हंगामा खड़ा कर अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहते हैं। यदि प्रशासन की ओर से ऐसे साम्प्रदायिक लोगों पर अंकुश नहीं लगाया गया, तो देश में निरन्तर साम्प्रदायिक दुर्घटनाएँ होती रहेंगी और देश की शान्ति में उथल-पुथल होता रहेगा।

प्रेमचन्द-जन्मशती :

प्रेमचन्द का जन्म सन् १८७९ ई० की ३० जुलाई को हुआ था, और मृत्यु सन् १९३६ ई० के ८ अक्तूबर को हुई थी। प्रेमचन्द की क्रान्तिकारी हिन्दी-सेवाओं को ध्यान में रखते हुए भारत के साहित्यकारों ने उनकी जन्मशती धूमधाम से सर्वत्र मनाई है। उसी सिलसिले में अनेक समारोहों का आयोजन किया गया है, और उक्त समारोहों में अनेक विद्वानों ने उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। विभिन्न विचारों के बीच उन्हें खड़ा करने की चेष्टा की गई है।

प्रेमचन्द किस विचार-विशेष के पोषक थे, कहना कठिन है। उनके पुत्र अमृतराय ने उन्हें 'बोलशेविक' कहा है। उनका कहना है कि वे सन् १९२० ई० से ही अपने को 'बोलशेविक' कहने लगे थे। कुछ लोग उन्हें समाजसुधारक तथा कुछ लोग मानववादी भी कहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वे विशुद्ध राष्ट्रवादी थे। वे कौमी एकता कायम करने के पक्षपाती थे, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। इसीलिए, उन्होंने साम्प्रदायिक विचारों को देश की एकता के मार्ग में प्रबल अवरोधक बताया है।

प्रेमचन्द एक पहुँचे हुए लेखक थे, इस बात का कोई भी समझदार पाठक विरोध नहीं करता। जिन्होंने उनके उपन्यासों को पढ़ा है, वे इस बात से अवश्य सहमत होंगे कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के माध्यम से हिन्दी में एक नयी जान फूँकी है। उन्होंने अपनी दूरदर्शिता से समाज, धर्म और राजनीति का पलड़ा समान कर देखा है और सबके लिए एक समान, पर आदर्शपूर्ण सन्तुलन कायम किया है। उन्होंने समाज-निर्माण के लिए त्याग और तपस्या का स्थान ऊँचा रखा है। इसीलिए, 'रंगभूमि' का सूरदास (सूरा) अव्यवस्थित और अत्याचारी समाज की छाती पर बैठकर क्रान्ति का बिगुल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फूँक रहा है। उसके सामने भय और बाधा कोई वस्तु नहीं। वह धनी मालिकों के संगठित अत्याचारों का दिलेरी के साथ मुकाबला करता है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के द्वारा समाज के गलित अंगों को तराशा है। उन्होंने 'निर्मला' में वृद्धविवाह के विरुद्ध आवाज उठाई है, तो 'गबन' में गृहकलह और मध्यवर्गीय व्यक्तियों के पाखण्ड तथा पाशविकता का दर्दनाक चित्र खींचा है। 'गोदान' में हम उनके व्यक्तित्व को मानवता के ऊँचे शिखर पर देखते हैं।

हमें प्रेमचन्द को नजदीक से पढ़ने और समझने का मौका मिला है। 'काशी साहित्य-मण्डल' नामक साहित्यिक संस्था से सम्बद्ध होने के कारण हमें 'मण्डल' के एक बड़े समारोह में उन्हें आमन्त्रित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। वे समारोह में पधारे थे। उस समारोह के अध्यक्ष थे प्रसिद्ध समालोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल। जय शंकर प्रसादजी भी कृपा कर पधारे थे। उस समय काशी के हिन्दी-साहित्यसेवी दो खेमों में बँटे हुए थे। कुछ साहित्यसेवी प्रेमचन्द के प्रशंसक थे, तो कुछ प्रसादजी के। उस समारोह में इन दोनों खेमों के प्रशंसक और अनुयायी मौजूद थे। शुक्लजी के अनुरोध पर प्रेमचन्दजी बोलने के लिए उठे। वे अपनी मूँछों को समेटते हुए बोले : 'फुटपाथ पर सोनेवाले और बड़ी-बड़ी कोठियों में बिछे गद्देदार पलंगों पर रंगरेलियाँ करनेवाले क्या कभी एक साथ मिल सकते हैं? दोनों में कशमकश अनिवार्य है।' वे रुक-रुककर बोलते थे। मालूम होता था, जैसे कुछ उलझी ग्रन्थियों को सुलझा रहे हों। काफी देर तक बोले। सभा में सन्नाटा था। हमारी आँखें उन्हीं को पढ़ रही थीं। उनके भीतर से आग की चिनगारियाँ निकल रहीं थीं। उन्होंने अपने भाषण में किसी 'वाद' का समर्थन नहीं किया। हाँ, उन्होंने असमानता और शोषण का कसकर विरोध किया। उनके भाषण से पता चला कि सचमुच वे एक सच्चे मानव थे और मानवता को कुचलते तथा मसलते देखना उन्हें कतई कबूल नहीं था। इसीलिए, कभी वे मोम बन जाते थे, तो कभी आग के जलते शोले! अस्तु; आज भी हमारा मस्तक उनके महान् व्यक्तित्व के समक्ष नत है और हृदय प्रफुल्लित होकर उनके मूल्यवान् विचारों का अभिनन्दन करता है। हमारा मन अचानक उस समय की ओर खिंच जाता है, जिस समय प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी ने आरा में होने वाले विहारप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंच पर कहानी-गोष्ठी की अध्यक्षता की थी और अपने पति प्रेमचन्द के सम्बन्ध में अनेक बातें बताई थीं। हमने उनका अभिनन्दन किया था। आज उस दृश्य को याद कर हमारी नसें तन जाती हैं और रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

तुलसी-जयन्ती :

प्रत्येक वर्ष की भाँति इस वर्ष, सन् १९८० ई० में भी तुलसी-जयन्ती श्रावण शुक्ला सप्तमी को सर्वत्र मनाई गई। गोष्ठियों और समारोहों में विद्वानों ने तुलसीदास के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्रकट किये हैं। किसी ने उन्हें विशुद्ध भक्त कहा है, तो किसी ने समाजसुधारक और किसी ने उन्हें महान् कवि की उपाधि से विभूषित करने की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेष्टा की है। एक व्याख्याता ने उन्हें धर्मान्धता का पोषक बताया है। एक समारोह में एक वक्ता ने कहा कि तुलसीदास ने राम को अवगुणों से परे बनाकर पक्षपात किया है और वास्तविकता पर परदा डालने की चेष्टा की है। एक वक्ता ने अपनी बहस में रावण को राम से अधिक उदार और ईमानदार बताया। उनका रावण यद्यपि सीता को हरकर ले गया था, पर उसने कभी सीता की अप्रतिष्ठा नहीं की, बल्कि उनकी हर प्रतिष्ठा का खयाल रखा। यदि वह चाहता, तो सीता का सतीत्व नष्ट कर देता। पर, कभी उसने उनके सामने आकर कोई अपशब्द नहीं कहा और न भयभीत कर अपनी वासना तृप्त करने का प्रभाव रखा। पर, उधर राम ने लक्ष्मण को इशारा कर उनके द्वारा शूर्पणखा के नाक-कान कटवा डाले। यह कौन-सी उदारता है? क्या इसे भला कहा जा सकता है? इस प्रकार, जयन्ती-समारोहों में विभिन्न वक्ताओं ने पक्ष और विपक्ष में अपने-अपने विचार प्रकट किये।

हमारे विचार में सोलहवीं शताब्दी में जितने राम के भक्त हुए हैं, उनमें तुलसीदास की गणना आगे की पंक्ति में की जा सकती है। कारण, उनकी भक्ति निष्कामता के रूप में दिखाई देती है। उन्होंने राम को अपना इष्टदेव बनाकर समाज में आदर देने के लिए जिस भाषा, भाव और भक्ति की पद्धति अपनाई है, वह निस्सन्देह अत्यन्त आकर्षक बन गई है। मानव-हृदय ने उसे अपने भीतर पैठने के लिए स्वीकृति प्रदान की है। इससे सिद्ध है कि गोस्वामी तुलसीदास के भीतर आत्मसमर्पण छिपा हुआ था। उन्होंने अपने को मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के चरणों में समर्पित कर दिया था। ऐसी स्थिति में भक्ति से परिपूर्ण उनका कोमल हृदय अपने भगवान् राम के सर्वशक्तिमान् और सर्वगुण-आगर के सिवा दूसरे किसी रूप की कल्पना कैसे कर सकता था!

तुलसीदास अपनी प्रतिष्ठा नहीं चाहते थे। भक्त प्रतिष्ठा नहीं चाहता। मान-अपमान से वह अलग रहता है। तुलसीदास भी वैसे ही भक्तों में एक थे। यद्यपि उन्होंने रामायण तथा अन्य पुस्तकों को लिखकर अपनी काव्यकला का पूर्ण परिचय दिया, तथापि उन्होंने अपने को कवि नहीं माना। रामायण की निम्नांकित पंक्तियाँ इसका स्पष्ट समर्थन करती हैं कि :

कबि न होऊँ नहिं चतुर प्रबीना।
सकल कला सब बिद्या हीना।।
कबित बिबेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।। (मानस : बालकाण्ड)

तुलसीदास ने अपने काव्यों के माध्यम से समाज की व्यवस्था को अनुशासित रखने की चेष्टा की है। इसीलिए, उन्होंने अपने भगवान् राम को ईश्वर का अवतार मानते हुए भी मनुष्य की साधारण पंक्ति में खड़ा करने की चेष्टा की है। सीताहरण के बाद सीता की खोज के सिलसिले में जिस-तिस से व्यग्र होकर पूछताछ करना और परेशान होना राम को साधारण मनुष्य की श्रेणी में ला देता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'रामचरितमानस' गोस्वामी तुलसीदास का एक ऐसा काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने अध्यात्म और भक्ति से लेकर विविध विषयों पर प्रकाश डाला है। समाज, राजनीति, अर्थनीति, सांसारिकता, व्यावहारिकता इत्यादि आवश्यक विषयों को भी उन्होंने काफी टटोला है और उन्हें मथकर नवनीत निकालने का सफल प्रयास किया है।

तुलसीदास ने वर्णाश्रम का समर्थन किया है, सिर्फ समाज को एक सूत्र में बाँधने के लिए। आज के परिवर्तित युग में इसपर प्रश्न चिह्न लगाये जा रहे हैं। पर, समाज को सुव्यवस्थित और अनुशासित रखने के लिए इसके बदले में जबतक कोई ठोस सामाजिक व्यवस्था लागू नहीं की जाती, तबतक इसका अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में रहेगा ही। तुलसीदास ने वर्णाश्रम तथा राजतन्त्र का समर्थन किया है अवश्य, पर दूसरी ओर भक्ति का प्रतिपादन कर भक्त को सर्वोच्च स्थान दिया है, वह चाहे किसी भी वर्ण का क्यों न हो। उसी तरह तुलसीदास ने राम को राजा माना है; पर वैसे राजा के विरुद्ध आवाज उठाई है, जिसके राज्य में प्रजा को दुःख हो। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। तिनहीं बिलोकत पातक भारी।।' दूसरी ओर रामराज्य को सुन्दर राज्य इसलिए कहा है कि उस राज्य में पारस्परिक विद्वेष नहीं था। सभी एक दूसरे से प्रीति करते थे और अपने-अपने कर्त्तव्य के पालन में तत्पर थे। उनके द्वारा लिखित निम्नांकित पंक्तियाँ विचारणीय हैं :

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई।।
सब नर करहीं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीति।।
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद सब लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग।।

(मानस : उत्तरकाण्ड)

तुलसीदास ने वर्णाश्रम को संकुचित नहीं बनाया है। रामराज्य को भी उन्होंने एक आदर्श राज्य के रूप में देखा है। उनकी निम्नलिखित कल्पना कितनी गूढ एवं मननशील है :

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज।। (वही)

आज अत्याचार, शोषण, भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता, राजनीतिक दावपेंचों तथा कलुषित भावनाओं में उलझा हुआ भारत अपने कल्याण के लिए किसी सुगम, सुदृढ और प्रशस्त मार्ग की तलाश में परेशान है। काश, हम तुलसी के रामराज्य की सुन्दर कल्पना को साकार बना पाते !

△ बनारसीप्रसाद भोजपुरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मृति-तर्पण :

तीन प्रख्यात हिन्दी-साहित्यकारों का महाप्रयाण

सन् १९८० ई० में हिन्दी-जगत् के तीन महान् एवं प्रख्यात साहित्यकार अकस्मात् हमसे अलग होकर उस अदृश्य शक्ति में विलीन हो गये, जहाँ से फिर लौटकर आना नहीं होता। वे हैं प्रसिद्ध लेखक और आलोचक डॉ० देवराज उपाध्याय, कलामर्मज्ञ श्रीराय कृष्णदास तथा लेखनी के धनी पं० हंसकुमार तिवारी। डॉ० उपाध्याय का देहावसान ६ जुलाई को, श्रीराय कृष्णदास का २३ जुलाई को और पं० तिवारी का देहावसान उसी वर्ष २७ सितम्बर को हो गया! तीनों हिन्दी के मूर्धन्य लेखक थे।

हिन्दी के प्रख्यात लेखक, आलोचक एवं स्वतन्त्र विचारक डॉ० देवराज उपाध्याय भोजपुर जिले के वभनगावाँ ग्राम के रहनेवाले थे। उनके दो शादियाँ हुई थीं—पहली शादी हिन्दी के ख्यातिप्राप्त सम्पादक स्व० पं० पारसनाथ त्रिपाठी की कन्या के साथ तथा दूसरी शादी भारत के धुरिकीर्त्तनीय विद्वान् महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा की कन्या वसुमती के साथ। उपाध्यायजी की, जयपुर कॉलेज में व्याख्याता के पद पर जब नियुक्ति हुई, तब वसुमतीजी की भी नियुक्ति वहीं शिक्षा-विभाग में हुई थी। दोनों साथ रहते थे और दोनों ही वहाँ की साहित्यिक-मण्डली में काफी प्रिय थे।

डॉ० उपाध्याय ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। कथा-साहित्य में मनोविज्ञान के वे बहुत बड़े समर्थक थे। किसी भी विषय को वे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सोचते थे। आलोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही प्रमुखता दी है। वे एक मौलिक विचारक थे।

राजनीति में भी उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। इन पंक्तियों के लेखक के साथ वे लगभग सन् १९३० ई० में काँगरेस-शिविरों में काम करते थे और सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में वे विदेशी-सरकार के विरुद्ध कार्य करते हुए पकड़ लिये गये थे और जेल की सजा उन्हें मिली थी। इस पंक्तियों के लेखक के साथ वे आरा जेल में भी थे। चूँकि वे हास्य और व्यंग्य को बहुत पसन्द करते थे, इसलिए जेल में किसी भी साथी पर फब्तियाँ कसा करते थे और अकस्मात् चुटकियाँ भी लिया करते थे। जेल का जीवन उनके लिए जरा भी बोझिल नहीं था। वे कहा करते थे : 'संघर्ष जीवन को गतिशील बनाता है, जीवन को निखारता है। संघर्ष ही जीवन है।' फिर, वे बातचीत करते समय भी बराबर मुस्कराते रहते थे। कहते थे : 'मुस्कराहट में जिन्दगी हरी बनी रहती है।' इसीलिए, बीमार रहते हुए भी उन्होंने बीमारी की कभी परवाह नहीं की। डॉक्टरों के कथन पर वे आश्चर्य प्रकट करते थे और कहा करते थे कि 'पता नहीं, डॉक्टर क्या कहते हैं। सभी डॉक्टर एक तरह की बात नहीं कहते। जाँच, बीमारी, नुस्खे इत्यादि सभी उनके अपने-अपने अन्दाज के होते हैं।' उन्होंने एक बार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

झुँझलाकर कहा : 'यदि वे वास्तव में डॉक्टर होते, तो मेरे रोग को अवश्य पहचानते, और अच्छा कर देते।' इस प्रकार, वे बीमारी की हालत में भी साहित्य की ही सर्जना में लगे रहते थे।

जब उन्होंने, एक बार हमसे कहा कि आरा में बैठकर मैं हिन्दी की सेवा किसी साहित्यिक संस्था के माध्यम से करना चाहता हूँ, तब हमने भोजपुर-जिला-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए उनसे निवेदन किया। वे तैयार हो गये। हम सबने मिलकर उनको सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया। वे एक सक्रिय अध्यक्ष सिद्ध हुए। परन्तु, अध्यक्ष के रूप में ही वे अकस्मात् हमें शोकाहत करके स्वर्ग सिधार गये!

श्रीराय कृष्णदास ने भारतीय कला और संस्कृति के लिए 'निस्सन्देह' अपार त्याग और सेवा की है। वे हिन्दी में गद्यगीत-विधा के बहुत बड़े पोषक थे। उन्होंने मुक्त कण्ठ से 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को स्वीकार किया था और इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए प्रचुर प्रयास भी किया। गद्यगीतों के अतिरिक्त, उन्होंने कविता, कहानी, कला, इतिहास और संस्मरण भी लिखे हैं। वे एक कुशल सम्पादक भी थे। उन्होंने, 'इक्कीस कहानियाँ' और नई कहानियों का सफलतापूर्वक सम्पादन किया है। उन्होंने, 'भारत कला-भवन' और 'भारती-भण्डार' की स्थापना कर अपनी सहज कलाभिरुचि का परिचय दिया है। उनके निधन से एक युग का अन्त हो गया!

पं० हंसकुमार तिवारी प्रतिष्ठित कवि, योग्य लेखक और अनुवादक थे। उन्होंने, बँगला तथा दूसरी भाषाओं की पुस्तकों का हिन्दी में सुन्दर अनुवाद कर अपने भाषाज्ञान का पूर्ण परिचय दिया है। उनके द्वारा किये गये अनुवादों के पढ़ने के बाद मूल ग्रन्थों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उनकी भाषा सरल और बोधगम्य है। उनके निधन से हिन्दी-जगत् शोकाकुल है!

हम 'शोध'-परिवार की ओर से उक्त तीनों दिवंगत साहित्यकारों की महान् आत्माओं के समक्ष नतमस्तक हो विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं!

△ बनारसीप्रसाद भोजपुरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द की प्रासंगिकता*

श्रीमती महादेवी वर्मा

समागत बन्धुओ,

मैं आपके बीच उपस्थित होना चाहती थी; परन्तु अधिक अस्वस्थ हो जाने के कारण और १२ तारीख के यहाँ के कार्यक्रम के कारण यात्रा करने में समर्थ नहीं हो सकी। यहीं से आपको शुभकामनाएँ भेजती हूँ। आप युगप्रवर्त्तक शिल्पी प्रेमचन्दजी की शती मना रहे हैं। प्रेमचन्दजी हमारे यहाँ के क्रान्तिकारी शिल्पी थे। एक ऐसे युग में, जब तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी आदि कथाएँ प्रचलित थीं, जिनमें आश्चर्य ही था, कुतूहल ही था, उस युग में प्रेमचन्दजी ने सामान्य व्यक्ति को प्रतिष्ठित किया और उसे कथा का नायक बनाया, जो क्रान्तिकारी पग था और सर्वथा नवीन था। उस समय तो उसका महत्त्व किसी ने उतना समझा नहीं, लेकिन जैसे-जैसे हमारी स्वतन्त्रता का संग्राम वेग पकड़ता गया, उनकी रचनाएँ महत्त्व पाती गईं; क्योंकि कोई देश जब स्वतन्त्र होना चाहता है, तब सामान्य जन की उपेक्षा नहीं कर सकता। सामान्य जन ही उस स्वतन्त्रता का वैतालिक होता है। बड़े व्यक्तियों को स्वतन्त्रता-परतन्त्रता कुछ भी कष्ट नहीं पहुँचाती, सामान्य जन ही अपनी अस्मिता के लिए लड़ता है, संघर्ष करता है।

प्रेमचन्दजी उस युग के सच्चे अर्थ में कलम के सिपाही थे और बहुत कम व्यक्ति जानते हैं कि उन्होंने उस संघर्ष में कैसा भाग लिया। अपने सम्बन्ध में वे निरभिमान व्यक्ति थे। उन्होंने क्या किया, इसका कोई भी अहंकार उनके पास नहीं था, सहज ही लिखते थे। एक ग्राम में जन्म पाया था, ग्राम्य विकास पाया था। एक अत्यन्त साधनहीन, निर्धन घर पाया था, परिवार पाया था। परिवार में भी बालक को जो स्नेह मिलता है, वह उन्हें नहीं मिला, माता नहीं रही, पिता नहीं रहे, सौतेली माता का व्यवहार भी कठोर ही रहा उनके प्रति। परन्तु, अपने मन की कोमलता से उन्होंने दूसरों की व्यथा समझी। ऐसा बहुत ही कम होता है।

मैंने उनको जबसे देखा, उनमें किसी प्रकार की कटुता नहीं देखी। सहज, निश्छल व्यक्ति थे। सहज, जैसे ग्रामीण होता है, वेश-भूषा में भी, रहन-सहन में भी

* सन् १९८१ ई० के ११-१२ अप्रैल को, नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा में आयोजित प्रेमचन्द-जन्म-शताब्दी-समारोह के लिए प्रेषित हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा का उद्घाटन-भाषण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और विचार में इतने ऊँचे थे कि उस युग का कोई उनके कन्धे तक भी नहीं पहुँचता था। पहले वे महात्माजी से प्रभावित हुए, अन्त तक महात्माजी के, अर्थात् बापू के कुछ जीवन-मूल्यों में उनकी आस्था निरन्तर रही और उसके उपरान्त वे मार्क्स से प्रभावित हुए। इन दोनों का ही समन्वय हमें उनकी रचनाओं में मिलता है और आज प्रश्न बार-बार उठता है, इस युग में उन रचनाओं की प्रासंगिकता क्या है? उनके सम्बन्ध में बार-बार व्यक्ति कहते हैं, प्रासंगिकता क्या है? प्रासंगिकता किसी भी लेखक की उसकी गम्भीर संवेदना में रहती है, जो कभी पुरानी नहीं होती, बासी नहीं हो सकती, उपेक्षणीय नहीं हो सकती। इसीलिए, आज वाल्मीकि भी प्रासंगिक हैं, तुलसीदास भी प्रासंगिक हैं, कालिदास भी प्रासंगिक हैं। इसी प्रकार मैं समझती हूँ कि प्रेमचन्द निरन्तर प्रासंगिक रहेंगे।

मनुष्य की संवेदना तो पुरानी नहीं होती, संवेदना उसे चाहिए, निरन्तर चाहिए। यह हो सकता है कि देश इतना सम्पन्न हो जाय कि कोई विपन्न न हो, कोई दुःखी न रहे। लेकिन, तो भी उसे परस्पर-स्नेह, सौहार्द और बहुत-से ऐसे कष्ट हैं, जिनमें एक संगी चाहिए। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। तो प्रेमचन्दजी की विशेषता या प्रासंगिकता उनकी गम्भीर संवेदना में है। उनके पात्र को देखिए। पहले उन्होंने समाज को देखा, इसमें जो रूढ़ियाँ थी, जो कुरीतियाँ थीं, सभी के सम्बन्ध में जो दृष्टि थी और हरिजन जिसे कहते हैं, उसके प्रति जो दृष्टि थी, उसको उन्होंने समझा और उनके आरम्भिक जो उपन्यास हैं, उनमें वे ही आते हैं; जैसे 'सेवासदन', जिसको हम पतित कहते हैं, उपेक्षणीय कहते हैं, उसको मानों उन्होंने अपने अंक में उठा लिया और एक नया गौरव दिया। कहीं वे उपदेश नहीं देते, यह बहुत बड़ी बात है, अन्यथा जितने सुधारक आते हैं, वे उपदेश देते हैं—ऐसा कीजिए, ऐसा न कीजिए। प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में उपदेश नहीं देते, कहीं ये उपदेशक नहीं हैं। वे साक्षी हैं, द्रष्टा हैं, और मानों हमारे मर्म को सहला देते हैं, हमारे घाव पर सहानुभूति का आलेपन लगा देते हैं। कुछ उनकी कहानियाँ ऐसी हैं, जैसी विश्व-साहित्य में नहीं मिलेंगी; जैसे 'कफन'। उस कहानी में दो ही पात्र आते हैं और दो ही कैसे विचित्र आते हैं! प्रेमचन्दजी अन्त में यह नहीं कहते हैं कि यह होना अच्छा है, यह नहीं अच्छा है, ऐसा कहीं कुछ नहीं कहते हैं, छोड़ देते हैं वहीं उन दोनों को, लेकिन हमारे मन में एक जिज्ञासा जाग जाती है अजीब प्रकार की, यह समाज कैसा है, जिसमें वैसे व्यक्ति हैं, किसलिए वैसे व्यक्ति हो गये हैं और उनका यही रूप रहे, तो समाज का क्या होगा, समाज का क्या रूप होगा? अनेक, समाधान हमारे मन में जगते हैं, तो यह बहुत बड़ी बात है रचनाकार की कि पढ़नेवाले से समाधान माँगे। वह स्वयं कोई समाधान न दे, ऐसी जगह वे छोड़ देते हैं।

इसी तरह उनकी कहानी 'पूस की रात' है, किस तरह से एक किसान किन परिस्थितियों में धीरे-धीरे मजदूर हो जाता है। वह अपनी जमीन को बहुत चाहता है, अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खेती को बहुत चाहता है, हर पौधे को चाहता है और तब भी विवश हो जाता है, छोड़के कहता है, अच्छा चलो, यह सब कुछ छोड़कर मिल में कहीं नौकरी करें। तो किस तरह से एक धरती का पुत्र यन्त्र में जाकर सेवक हो जाता है। वहाँ वह स्वामी है अपनी धरती का, यहाँ सेवक हो जाता है। तो फिर हमारे मन में प्रश्न जागता है। कौन-सी यह परिस्थिति है? महाजनी सभ्यता की बात वे बार-बार कहते हैं—वह सभ्यता, जो एक मनुष्य को सम्पन्न बनाती है, दूसरे को दैन्य देती है, दीन बना देती है, उपेक्षित बना देती है। उसको इतने मर्म से उन्होंने देखा है, इतनी सहानुभूति से गढ़ा है कि वह साँचा केवल उन्हीं के पास था, उस युग में और कोई वैसा नहीं दे सका।

इसी तरह से 'गोदान', जो उनका अन्तिम उपन्यास है, उसमें हमारे मन को एकदम मथ डालने की शक्ति है, वैसा और कोई उपन्यास नहीं है। वे कुछ कहते नहीं हैं, किस प्रकार एक गाँव का साधारण व्यक्ति है, आस्थावान् है, सत्य बोलता है, जीवन के मूल्यों में विश्वास करता है और कैसे उसके सारे स्वप्न नष्ट होते हैं और किस तरह अन्त में वह समाप्त होता है, बिल्कुल हमारे पूरे युग को मानों उन्होंने उसमें रख दिया है। उनके उपन्यासों में एक महाकाव्य अपने-आप अन्तर्निहित है, वह उपन्यास नहीं है, महाकाव्य में जैसे जीवन के हर पात्र को, हर चरित्र को स्थान मिल जाता है, हर परिस्थिति को मिल जाता है, हर विचार को मिल जाता है, हर भावना को मिल जाता है। उनके उपन्यासों में भी इसी प्रकार है। नागरिक सभ्यता भी उसमें है, वे उसका चित्रण भी तटस्थ भाव से करते हैं और ग्रामीण सभ्यता भी उसमें है, सम्पन्न भी है, महाजन भी है, किसान भी है, मजदूर भी है, यानी कोई जीवन का ऐसा पात्र नहीं है, समाज का ऐसा पात्र नहीं है, जिसका उन्होंने चित्रण नहीं किया हो और पूरे मन से नहीं किया हो, ऐसा नहीं है। मतलब यह कि हर पात्र के साथ वे जीते हैं।

कभी-कभी प्रश्न उठता है कि यह कैसा रचनाकार है, जो हरेक के साथ जी सकता है। नहीं तो कुछ ऐसे हैं कि स्पष्ट जान पड़ता है कि इसके शत्रु हैं, इसके मित्र हैं, इसके पक्षधर हैं, इसके विपक्षी हैं—ऐसा कोई जान नहीं पड़ता यहाँ। जिसका चित्रण है, पूरे मनोयोग के साथ है, तटस्थता के साथ है, और ऐसा है कि अनायास हमें उस पात्र के निकट पहुँचा देता है, सब अपने लगते हैं। उनके बड़े-बड़े उपन्यास हैं। जैसे वह सूरदास है—सूरदास अकेला ही है अपने-आप में, जिस तरह से 'गोदान' का होरी भी अकेला है।

तो ऐसा रचनाकार हमारे पास दूसरा नहीं है। बापू की जितनी भी संघर्ष-कथाएँ हैं, उनके सब उपन्यासों में आ जाती हैं। अगर सारा इतिहास बना लेंगे। जैसी उस समय स्थिति थी, सबका लेखा-जोखा हम ले लेंगे और तब भी ऐसा है कि न वे कहीं उपदेश देते हैं, न ऊँचाई पर बैठ करके व्यासपीठ से बोलते हैं, बिल्कुल जैसे नित्य हमें मिलते हैं घर के व्यक्ति—इसी तरह मिलते हैं, इसी तरह अपने जान पड़ते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द उर्दू से आये थे, उर्दू का प्रवाह भी लाये थे बहुत कुछ हिन्दी में, हिन्दी उनकी सरल भी है, किन्तु हिन्दी है और जब उनसे मैंने पूछा कि आप तो उर्दू में इतना लिखते थे और प्रतिष्ठा भी आपको मिल चुकी थी वहाँ, तो हिन्दी में क्यों आये? तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि मैं समझता हूँ कि हिन्दी ही यहाँ की भाषा होगी। उस समय यह कल्पना भी किसी को नहीं थी कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी। यह तो स्वतन्त्र होने के उपरान्त संविधान में आया और चूँकि बापू ने सारे संघर्ष में इसी भाषा को प्रयुक्त किया, इस भाषा ने पूरे संघर्ष का भार झेला, उत्तर को दक्षिण से मिलाया, दक्षिण को उत्तर से मिलाया, पूर्व को पश्चिम से मिलाया, लेकिन मिलाया हिन्दी ने। बापू और किसी भाषा में बोले नहीं, अपनी मातृभाषा गुजराती में भी नहीं बोले। अँगरेजी, जो वे इतनी अच्छी लिखते थे, बोलते थे, उसमें भी नहीं बोले—अपने देश में वे इसी में बोले। जो इस भाषा ने देश को एक रखने का काम किया, इसके परिणाम में संविधान में इसे राष्ट्रभाषा का पद दिया गया। अब यह देश का दुर्भाग्य है कि उसको यह पद अबतक नहीं प्राप्त हुआ, परन्तु उसकी शक्ति तो प्रेमचन्दजी जानते थे और जैसी प्रेमचन्दजी की हिन्दी है, वह हिन्दी निरन्तर यहाँ देश को जोड़ती रही।

आज भी आप किसी प्रदेश में जाइए, वह किसी कवि को नहीं जानता होगा, किसी कहानीकार को नहीं जानता होगा, लेकिन प्रेमचन्द को जानता होगा, निश्चित रूप से, इसलिए कि सब जगह होरी हैं, सब जगह सूरदास हैं, सब जगह महाजनी सभ्यता है। उस युग की, वह सभ्यता तो आज भी नहीं गई है, वह अभिशाप तो आज भी हमारे जीवन से नहीं हटा है। प्रेमचन्दजी ने उसके लिए बहुत प्रयत्न किया और आज भी अगर वे जीवित होते, तो वही प्रयत्न करते. संघर्ष आज भी उनके लिए वही था। उन्होंने आजीवन संघर्ष किया और अन्तिम क्षण तक संघर्ष किया। न उन्होंने अपने लिए ऐसा स्वप्न देखा कि मैं बड़ा आदमी हो जाऊँ और न अपने बच्चों के लिए देखा। अपने सारे कष्ट को उन्होंने अपने तक ही रखा। उनका अट्टहास ही गूँजता रहा, आँसू अगर रहे होंगे, तो उनके भीतर रहे होंगे, आँखों में घिरे रहे होंगे। लेकिन, हम तो जानते थे उनको, हम दूर से उनको इस अट्टहास से ही समझ जाते थे कि प्रेमचन्दजी आये हैं। ऐसा मुक्त मन का, निश्छल मन का, सरल व्यक्ति और इतना महान् रचनाकार किसी युग में ही आता है, जिसने सम्पूर्ण युग को बदल दिया, युगमानस को बदल दिया और आज भी हर वर्ग यह चाहता है कि प्रेमचन्द हमारी ओर रहें, हमारे अपने रहें, तो आज देखेंगे कि उत्तर-दक्षिण ही नहीं, विश्व-भर में उनकी शती मनाई जा रही है। किसलिए मनाते होंगे—पराधीन देश में हुए वे, उसमें संघर्ष समाप्त हुए, आज हर देश कैसे मनाता है, इसलिए मनाता है कि हर जगह मनुष्य दुःखी है, मनुष्य को मनुष्य ने पीडित कर रखा है, इसलिए सब प्रेमचन्दजी को अपना बनाना चाहते हैं।

अपने देश में भी—हर प्रदेश में भी प्रेमचन्द हैं। उनके लिए सद्भावना है, प्रेम है। मरने के बाद अगर कोई अमरता होती है, तो वह अमरता वास्तव में आने-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाली पीढ़ियों के मन में मिलती है, जिस व्यक्ति को जितनी अमरता मिल जाय। प्रेमचन्दजी को अपनी आनेवाली पीढ़ियों से अमरता मिलेगी और उनके जो समकालीन शेष हैं। अस्तु ! हम जानते हैं कि इतना अच्छा व्यक्ति हमारे बीच में अब नहीं आया। और, कलम चढ़के जो क्रान्ति उतरती है, वह क्रान्ति किस तरह फैलती है, कितनी व्यापक होती है, यह उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है। वास्तव में, कोई क्रान्ति शून्य में नहीं उतरती और कोई क्रान्ति चाँदनी में, चन्दन में और फूलों में नहीं उतरती, वह तो ज्वाला में उतरती है। वास्तव में, प्रेमचन्दजी के हृदय में वह ज्वाला थी। मनुष्य जहाँ पीडित है, वहाँ प्रेमचन्द के मन की संवेदना है, असीम है, गहरी है। वे निरन्तर प्रासंगिक रहेंगे, जबतक मेरे विचार में भारत भारत है और जबतक मनुष्य ऐसा नहीं हो जाता कि वह पहचान ही भूल जाय अपने साहित्यकार की। ऐसा कभी नहीं होगा। आप उनका स्मरण कर रहे हैं, बहुत अच्छा है।

प्रेमचन्द ने जो संघर्ष किया, उसे समझिए और यह भी समझिए कि संघर्ष समाप्त नहीं हुआ है। आप यदि उनके उत्तराधिकारी हैं, तो आपको निश्चित रूप से वह संघर्ष स्वीकार करना होगा। सूर्यास्त जब होने लगता है, तब हिमालय बहुत विशाल होने पर भी उसका उत्तराधिकार नहीं स्वीकार कर सकता, समुद्र इतना गहरा होने पर भी उसका उत्तराधिकार नहीं स्वीकार करता, केवल छोटा-सा दीपक स्वीकार कर लेता है, उसकी लौ स्वीकार कर लेती है। यदि आप प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी हैं, तो आपको ज्वाला भी स्वीकार करनी होगी, काँटों का वह मार्ग भी पार करना होगा और मनुष्य को सुखी बनाने का प्रयत्न करना होगा। मेरा विश्वास है, आप यह कर सकेंगे।

△ ३, अशोकनगर, इलाहाबाद

एक महार्घ सम्मति

'शोध' : साहित्य-संस्कृति-गवेषणा-प्रधान पत्रिका अपने नाम के साथ पूरा न्याय करती है। सम्पादकद्वय को इसके लिए बधाई दी जानी चाहिए कि वे इतनी अमूल्य सामग्री संकलित करने में सफलता सिद्ध करते हैं। मालूम हुआ कि वह अनियतकालीन प्रकाशन के रूप में ही चल रही है। उसे नियमित त्रैमासिक रूप मिलने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। पुरातत्त्व एवं गम्भीर विषयों के अन्वेषियों एवं अध्येताओं के लिए यह एक वरदानस्वरूप होगा।

△ पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली △ श्रीजैनेन्द्रकुमार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साम्प्रदायिक सौहार्द का सवाल और प्रेमचन्द*

△ डॉ० शिवकुमार मिश्र

१. साम्प्रदायिक तनाव, विद्वेष तथा संघर्ष के फलस्वरूप साम्प्रदायिक सौहार्द की आवश्यकता का अहसास और उसके लिए किये जानेवाले प्रयास, भारतवर्ष के लिए नये नहीं हैं। हमारा सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास प्राचीन काल से ही विजेताओं तथा विजित जातियों के और उनकी संस्कृतियों के आपसी संघर्षों से भरा पड़ा है और हमें मालूम है कि ये संघर्ष केवल वैचारिक अथवा अहिंसक संघर्ष ही नहीं रहे हैं, अपितु इनके कारण काफी कुछ खून बहा और बहाया गया है। जबरन धर्म-परिवर्त्तन, लूटपाट, हत्या तथा विरोधियों के देवस्थानों का ध्वंस हमारे लिए पहले से ही जानी-समझी बातें हैं और इन सारी कारगुजारियों में विजेताओं ने आगे बढ़कर हिस्सा लिया है। इस बात के उदाहरण भी हमारे प्राचीन इतिहास में हैं, जबकि धर्म तथा सम्प्रदाय की संकीर्ण मानसिकता से मुक्त होकर सर्वजन तथा सब धर्मों के हित में हमारे यहाँ सोचा-विचारा गया है, धार्मिक तथा साम्प्रदायिक उन्माद तथा पागलपन की निन्दा की गई है। पहले सत्य से दूसरे सत्य को अधिक महत्त्वपूर्ण माननेवाली मानसिकता हमारे यहाँ बराबर विद्यमान रही है, तभी एक राष्ट्र के रूप में हम आजतक जीवित हैं और आगे भी जीवित रहने की इच्छा रखते हैं।

२. भारतीय इतिहास के मध्यकाल में आने पर हमें उक्त स्थिति में एक गुणात्मक बदलाव दिखाई पड़ता है। पहले साम्प्रदायिक तनाव के सन्दर्भ वैदिक-अवैदिक जातियों, धर्म तथा उनसे सम्बद्ध लोग थे; ब्राह्मण, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि थे। मध्यकाल में उसके सन्दर्भ हिन्दू और मुसलमान बनते हैं। इसलाम की नई शक्ति का अभ्युदय तथा उसका भारत-आगमन पहले से विद्यमान आपस में लड़ते-झगड़ते हुए नाना धर्म-मतों, सम्प्रदायों तथा जातियों को सकते में डाल देता है और उन्हें इसलाम के प्रभुत्व के खतरे के समक्ष तात्कालिक रूप से संगठित होने को विवश करता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि 'पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संघबद्ध धर्माचार की जरूरत महसूस हुई। इसलाम के आने के पहले इस विशाल जनसमूह का कोई एक नाम तक नहीं था। अब उसका नाम हिन्दू पड़ा। हिन्दू, अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इसलामी

---

* सन् १९८१ ई० के १२ अप्रैल को आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित प्रेमचन्द-जन्मशती-समारोह में पठित आलेख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मत।'[1] चूँकि, इसलाम भारत में अपने खास आचार-विचारों और अपनी विशिष्ट संस्कृति के साथ आया था तथा अपने स्रोत से भली भाँति सुसम्बद्ध था, उसके अनुयायी कोई खानाबदोश कबीलाई नस्ल के नहीं थे, अतएव भारत में बाहर से आई दूसरी तमाम जातियों की तरह वह भारतीय धारा में अन्तर्लीन नहीं हो सका. उसका अलग वजूद कायम रहा। आगे का सारा साम्प्रदायिक तनाव, द्वन्द्व तथा संघर्ष स्वभावतः अब हिन्दू-मुसलमानों के बीच में विकसित होता है, विकसित किया जाता है। इसलाम के स्वतन्त्र वजूद को कुचल पाने में अथवा उसे अपने में अन्तर्भुक्त कर पाने में असमर्थ हिन्दू-धर्ममत आहत और विक्षुब्ध होता है, किन्तु विजेता इसलाम के मजहबी आवेश में एक लम्बे समय तक उसे आत्मरक्षात्मक स्थिति में ही रहना पड़ता है, फलतः वह और भी अधिक रूढ होता जाता है।

३. हिन्दू-धर्म तथा इसलामी मजहब के बीच के फासले को कम करने के प्रयास भी इस सारे दौर चलते रहते हैं। किन्तु, इन प्रयासों में एक तेजी तब आती है, जब एक तो लम्बे साहचर्य के फलस्वरूप आम हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को जानने-समझने लगते हैं, दूसरे, जब इसलाम आक्रमणकारी जाति का मजहब न रहकर इस देश को ही अपना देश माननेवालों का मजहब या धर्म बन जाता है। मध्यकाल के हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक तथा राजनीतिक इतिहास का भी एक बड़ा हिस्सा हिन्दुओं और मुसलमानों को देश के मुख्य प्रवाह से एकात्म करने के प्रयासों का प्रमाण देता है। यह सही है कि इस सारे दौर, कट्टरपन्थियों की ओर से साम्प्रदायिक उन्माद को उभारने तथा धर्मान्धता को जिन्दा रखने की कोशिश भी होती है और उन्हें सफलता भी मिलती है; किन्तु यह ज्यादा बड़ी सचाई है कि हिन्दू-मुसलमान इस सारे दौर, करीब आते हैं और उनके बीच सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक भूमिका पर नाना-स्तरीय रिश्ते कायम होते हैं। मध्यकाल की विशेषतः मुगल-शासनकाल की, हिन्दु-मुसलिम-लड़ाइयों का विश्लेषण किया जाय, तो स्पष्ट होगा कि ये लड़ाइयाँ सत्ता-द्वन्द्व का ही प्रतिफल रही हैं, साम्प्रदायिक भावना या उन्माद का नहीं। इनमें लगातार हिन्दुओं की ओर से मुसलमान और मुसलमानों की ओर से हिन्दू लड़े हैं और इनकी चपेट में हिन्दू-मुसलमान जनता बराबर-बराबर आई है। मध्यकाल के हिन्दू-मुसलिम-संघर्ष को, बल्कि कहा जाय तो, हिन्दू-राजाओं और मुसलमान-बादशाहों के सत्ता-संघर्ष को, साम्प्रदायिक भावना से चालित मानना इतिहास की नितान्त गलत व्याख्या करना है। हिन्दू-मुसलमान-सम्प्रदायवादियों के साथ-साथ इस काम को बाद के अँगरेज-शासकों ने अपने इतिहासकारों की मदद से बड़ी शान से सम्पन्न किया है। हमें बचपन से, इसी प्रकार के इतिहास को पढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ा है, जिसमें भारतीय इतिहास को हिन्दू-युग और मुसलिम-युग में बाँटकर देखा गया है।

प्रेमचन्द यदि अपने लेखन में बार-बार इतिहास को दफन कर देने की बात करते हैं, तमाम विष की गाँठ इतिहास को मानते हैं और इस प्रकार के इतिहास के पीछे निहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जेहनियत के प्रति अपना सात्त्विक आक्रोश व्यक्त करते हैं, तो यह सर्वथा उचित ही है। स्मरण रहे कि प्रेमचन्द इतिहास-विरोधी नहीं हैं, उनका विरोध इतिहास की गलत व्याख्या से तथा उस व्याख्या को प्रेरित करनेवाली साम्प्रदायिक तथा कूटनीतिक मनोवृत्ति से है। अन्यथा सब लोग जानते हैं कि प्रेमचन्द ने खुद इतिहास को आधार बनाकर ऐसी रचनाएँ लिखी हैं, जो हमें अपनी मौजूदा तमाम समस्याओं से निबटने में मदद देती हैं। अपने लेखों में इतिहास को वस्तुपरक दृष्टि से देखते हुए उसी का आधार लेकर उन्होंने उसकी भ्रामक तथा गलत व्याख्याओं की काट की है। यह इतिहास का विरोध नहीं, वरन् गलत इतिहास का खण्डन करते हुए इतिहास को उसके वस्तुपरक आधार पर देखने और समझने-समझाने की पेशकश है।[२] प्रेमचन्द जानते थे कि हिन्दू-मुसलमान फिरकापरस्तों के हाथों में गलत इतिहास साम्प्रदायिक जेहनियत को उभारने का कारगर हथियार बन जाता है, इस कारण उसका जितना भी विरोध किया जाय, थोड़ा है।

४. हिन्दू और मुसलमानों के बीच भेद की दीवार खड़ी करने का काम जितनी कुशलता से दोनों तबकों के फिरकापरस्त नहीं कर पाये, वह काम अँगरेज-शासक पूरी कुशलता से सम्पन्न करते हैं। राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इन सभी स्तरों पर वे हिन्दू-मुसलमानों के बीच पहले से ही प्रतिष्ठित एकात्म पर आघात करते हैं, परिणाम यह होता है कि धर्म और संस्कृति जैसे नारों को लेकर पहली बार हिन्दू-मुसलिम साम्प्रदायिकता की समस्या सतह पर आ जाती है। भारत की धरती पर अपने शासन को स्थायी बनाने का इससे अधिक कारगर हथियार अँगरेज-शासकों को दूसरा नहीं दिखाई देता। उन्हें अपने इस कार्य में पूरा सहयोग मिलता है अपने भारतीय चाकरों से, अर्थात् राजाओं-रावराजाओं, जमीन्दारों-ताल्लुकेदारों, राय साहबों-खान साहबों तथा मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे उस तबके के लोगों से, जो अँगरेजों से केवल कुरसियों की ख्वाहिश रखते थे, ताकि वे उनपर बैठकर देशवासियों की 'सेवा' कर सकें! साम्प्रदायिक भावना यहाँ सीधे सत्ता-लोलुपता से जुड़ती है, जो कि उसका सही सत्य है और आजादी के सारे दौर वह लगातार सत्ता हथियाने के प्रयासों से जुड़ी रहती है। नारे लगते हैं धर्म और संस्कृति की रक्षा के, ताकि आम हिन्दू-मुसलमान जनता को गुमराह किया जा सके, उसे अपनी हविश का मुहरा बनाया जा सके, उसकी आँख में धूल झोंकी जा सके और दुर्भाग्य यह कि मध्यकालीन विश्वासों में जीवित, सामन्ती जेहनियत की, हमारी आम हिन्दू-मुसलमान जनता भुलावे में आ भी जाती है। स्वार्थ सधता है सुविधा-सम्पन्नों का, बलि चढ़ाई जाती है आम जनता की। प्रेमचन्द ने अपने स्वतन्त्र निबन्धों में, अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में अनेकानेक पात्रों के माध्यम से आम हिन्दू-मुसलमान जनता को गुमराह करनेवाले, उनकी धार्मिक भावना को अपने वर्ग-स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करनेवाले, और आजादी तथा अधिकार के नाम पर उसे मूर्ख बनानेवाले इन सत्तालोलुपों की मानसिकता तथा कारगुजारियों को जमकर उभारा है।[३] मसलन, 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' निबन्ध में उन्होंने लिखा है कि साम्प्रदायिकता सदैव धर्म और संस्कृति की खाल ओढ़कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामने आती है; क्योंकि उसे अपने असली रूप में लोगों के सामने आने में शर्म लगती है। सुविधासम्पन्न किस प्रकार धर्म को, तबलीग, शुद्धि, गोहत्या आदि को, अपने स्वार्थ-साधन का मुहरा बनाते हैं, इस बात को उन्होंने 'कायाकल्प' तथा दूसरे उपन्यासों और कहानियों में बड़े साफ तौर से स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि धर्म से इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है, वह एक विशुद्ध शख्सी चीज है, मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्धों की बात है, उसे राजनीति में लाने और उससे गड्डमड्ड करने की कोई जरूरत नहीं है। हम उनके लेखों तथा रचनाओं से उद्धरण देकर अपने निबन्ध को विस्तार नहीं देना चाहते, किन्तु इस बात को जोर देकर कहना चाहते हैं कि धर्म, साम्प्रदायिकता, संस्कृति तथा इनसे सम्बद्ध दीगर मसलों की जितनी खरी तथा साफ समझ हमें प्रेमचन्द की रचनाओं तथा लेखन में दिखाई पड़ती है, वह उनके अपने समय के तमाम विचारकों, राजनेताओं आदि की अपनी सोच से कहीं आगे की चीज थी। अपनी इस समझ को उन्होंने सीधे अपने निबन्धों में तो बेबाकी के साथ रखा ही है, अपनी रचनाओं के मि० तेगअली, ख्वाजा महमूद, मि० गजनवी, सोफिया, अमरकान्त, चक्रधर, सलीम तथा दूसरे तमाम पात्रों के द्वारा भी उतनी ही साफगोई के साथ प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द इस मसले पर एकदम साफ हैं कि साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध न धर्म से है और न संस्कृति से, वह विशुद्ध रूप से निहितस्वार्थ लोगों के सत्ता तथा अधिकार-द्वन्द्व से जुड़ी है, जिसका आम हिन्दू-मुसलमानों के हित से कोई नाता नहीं है, वरन् वह उन्हें बरबाद ही करती है। 'कायाकल्प' में ख्वाजा महमूद मौलवी से कहते हैं कि 'आपको तो अपने हलवे-माँड़े से काम है, जिम्मेदारी तो हमारे ऊपर आयगी, दूकानें तो हमारी लुटेंगी, आपके पास फटे बोरिए और फूटे बधने के सिवा और क्या रखा है।' प्रेमचन्द के धर्म और साम्प्रदायिकता-सम्बन्धी चिन्तन में कहीं कोई उलझाव नहीं है, हमें उसे पूरी संजीदगी तथा बल के साथ रेखांकित करना चाहिए।

५. साम्प्रदायिक सौहार्द का सवाल प्रेमचन्द के लिए कुरसी तथा सत्ता की होड़ में लगे राजनेताओं या अपना घर भरनेवाले मुनाफाखोरों की तरह कोई अवसर का तकाजा नहीं था। वह उनके लिए किसी कोरी रणनीति या कार्यनीति का हिस्सा भी नहीं था। साम्प्रदायिक सौहार्द की बात उनकी आस्था से जुड़ी हुई चीज थी। चूँकि, वे भारत जैसे राष्ट्र की बुनावट से, उसके इतिहास से परिचित थे, अतः वह उनके लिए राष्ट्र के एक बुनियादी मूल्य की हैसियत रखता था। उनके लिए एक स्वर पर वह राष्ट्रीय मुक्ति की, उस मुक्ति की, जिसकी परिकल्पना उन्होंने कर रखी थी, एक अनिवार्य शर्त्त था, दूसरे स्तर पर आदमीयत का तकाजा भी था। उनका लेखक होना, न होना ही नहीं, उनका आदमी होना, न होना भी उससे जुड़ा हुआ था। तभी इस सवाल पर हम प्रेमचन्द को अपने समूचे लेखन के दौरान भीतर तक संसक्त देखते हैं और जब भी उसकी बाधक शक्तियाँ प्रबल पड़ती हैं, वे बेचैन हो उठते हैं। 'मनुष्यता का अकाल', 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति', 'हिन्दू-मुसलिम-एकता' जैसे उनके निबन्धों तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी कहानियों और उपन्यासों में उनके 'सेक्यूलर' पात्रों की ओर से साम्प्रदायिक भावना के विरोध में दी गई दलीलें महज औपचारिक नहीं हैं, वे सरापा सेक्यूलर, कबीर से भी एक कदम आगे बढ़े हुए, मुंशीजी की बेचैनी और तड़प का इजहार हैं; धर्म तथा उसके रस्मी रूप पर जहाँ भी वे बरसे हैं, जहाँ भी उन्होंने कबीर के ही अन्दाज में पण्डितों और मौलवियों, ढोंगियों और बहुरूपियों तथा धर्म की ध्वजा उठानेवाले अवसरवादियों की मखौल उड़ाई है, यह सब उनका सात्त्विक आक्रोश ही है, अन्यथा व्यक्तिगत जिन्दगी में प्रेमचन्द भले ही धर्म के रस्मी रूप से अलग होते हुए उसे इन्सानियत के पर्याय के रूप में ही स्वीकार्य मानने लगे हों, जहाँतक हिन्दुस्तान की भोली-भाली, आम जनता का, हिन्दू-मुसलमान जनता का सवाल है, उन्होंने उसकी भोली और नासमझ धार्मिक निष्ठाओं की कभी मखौल नहीं उड़ाई है। हंसराज रहबर ने बहुत सही लिखा है कि 'उनके धार्मिक विचार कुछ भी रहे हों, वे जनसाधारण की धार्मिक भावनाओं का आदर करते थे और उन्हें एक आस्तिक की श्रद्धा के साथ अंकित करते थे; क्योंकि वे जानते थे कि शोषित जनता के पास एक धर्म ही तो है, जो उसे इस भीषण दरिद्रता में जीने का बल प्रदान करता है। यदि उनसे यह विश्वास भी छीन लिया जाय, तो फिर उनके पास और कौन-सा सहारा रह जायगा।'[४]

६. साम्प्रदायिक सौहार्द के सवाल को हमने प्रेमचन्द की दो आधारभूत चिन्ताओं से जोड़कर देखा है—राष्ट्रीय मुक्ति की चिन्ता से और आदमीयत की चिन्ता से। कहने की जरूरत नहीं कि राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल प्रेमचन्द के लिए कितना अहम था। भारत की मुक्ति और सही अर्थों में मुक्ति प्रेमचन्द का एक बहुत बड़ा सपना थी, जिसे वे कितनी भी बड़ी कीमत पर पाना चाहते थे। प्रेमचन्द यदि भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन के लेखक हैं, जैसा कि वे हैं, तो इसलिए कि भारत की वास्तविक स्वतन्त्रता को लक्ष्य मानकर ही उन्होंने लेखन के क्षेत्र में प्रवेश किया था, उनका समूचा रचनात्मक कर्म भारत की मुक्ति के प्रति समर्पित है। भारत की मुक्ति की अपनी खास परिकल्पना को लेकर वे अपने समय के स्वाधीनता-आन्दोलन से जुड़े थे, जो अपने समय के तमाम नरमदलीय, गरमदलीय तथा बाद के नेताओं की सोच से आगे की चीज थी। उनके लिए देश की मुक्ति का अर्थ अँगरेजों से चन्द रियायतें पाना या अन्ततः राजनीतिक स्वतन्त्रता पा लेना-भर नहीं था, अपने प्रगतिशील पूर्ववर्त्तियों के स्वाधीनता-सम्बन्धी चिन्तन की विरासत को मजबूती से सँभाले, वे देश की राजनीतिक मुक्ति के साथ-साथ देश के कोटि-कोटि शोषित मनुष्यों के लिए उसकी सामाजिक तथा आर्थिक मुक्ति भी चाहते थे। उनके लिए साम्राज्यवाद ही नहीं, सामन्तवाद तथा पूँजीवाद भी, इस मुक्ति के उतने ही बड़े दुश्मन थे। उनकी परिकल्पना की मुक्ति मजदूर-किसानों, अछूतों तथा औरत जाति को सदियों के अमानवीय शोषण तथा उत्पीडन से नजात दिलानेवाली, एक शोषण-रहित, समतापूर्ण समाज-व्यवस्था में उन्हें अपने वजूद तथा क्षमताओं को खुलकर विकसित होने की पूरी छूट देनेवाली मुक्ति थी। यह हिन्दू अथवा मुसलमानों की अलग-अलग मुक्ति न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होकर दलितों और शोषितों की मुक्ति थी, जिसमें हिन्दू, मुसलमान सब शामिल थे। वे जानते थे कि साम्प्रदायिक सौहार्द के अभाव में इस मुक्ति को नहीं पाया जा सकता। अँगरेजों का शासन लम्बा जरूर हो सकता है। साम्प्रदायिकता को पैदा करनेवाली सामन्ती जेहनियत तथा उसे पुष्ट करनेवाली साम्राज्यवादी कूटनीति से लड़े बिना न तो शोषित मनुष्यता को संगठित किया जा सकता है और न ही उसे तमाम प्रकार के शोषण से मुक्त किया जा सकता है। धर्म और संस्कृति की जो दीवार शोषित मनुष्यता को बाँट देने और उसे अपनी वास्तविक मुक्ति को उसके समूचेपन के साथ न देखने देने के लिए निहितस्वार्थ लोगों के द्वारा खड़ी की जा रही है, उसे हटाते हुए धर्म के वास्तविक स्वरूप तथा उसके छद्म से शोषित मनुष्यता को परिचित कराना होगा और इस प्रकार उसे उसकी सही मुक्ति के प्रति मुखातिब कराना होगा, ताकि वह उसे समझ सके, उसके लिए एकजुट होकर लड़ सके।

साम्प्रदायिक सौहार्द का सवाल इस बिन्दु पर प्रेमचन्द के यहाँ राष्ट्रीय मुक्ति के लिए आवश्यक एक कारगर हथियार की शक्ल पाता है और प्रेमचन्द अपनी सारी विचारात्मक तथा रचनात्मक समझ के साथ उसका कारगर इस्तेमाल भी करते हैं। वे यदि एक स्तर पर हिन्दू-मुसलिम-फिरकापरस्ती को, धर्म तथा संस्कृति जैसी चीज को अपने निजी स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करनेवालों की कुत्सित तथा कुन्द सोच को, निर्ममता के साथ बेनकाब करते हैं, तो दूसरे स्तर पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों, ईसाइयों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के बीच से ही ऐसे चरित्र, ऐसी स्थितियाँ तथा ऐसी कथाएँ बुनते हैं, जो अपने हिन्दूपन, मुसलमानपन तथा ईसाईपन के बावजूद अलग-अलग भी और मिल-जुलकर भी, ऐसे इन्सानी रिश्तों को उभारती है, जहाँ हिन्दूपन, मुसलमानपन तथा ईसाईपन सब, जाने कहाँ गायब हो जाता है, बच रहती है तो एक ऐसी इन्सानियत, जो प्रेमचन्द का सपना थी और किसी भी इन्सान कहलानेवाले का सपना हो सकती है।[१] 'कर्मभूमि' में गजनवी के मुँह से प्रेमचन्द ने कहलाया है : 'यह तो दौलत का जमाना है। अब कौम में अमीर और गरीब जायदादवाले और मरभुखे अपनी-अपनी जमातें बनायेंगे। उनमें कहीं ज्यादा खूँरेजी होगी। आखिर एक-दो सदी के बाद दुनिया में एक सल्तनत हो जायगी। सबका कानून एक होगा, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे, मजहब शख्सी चीज होगी।' राष्ट्रीय मुक्ति-सम्बन्धी प्रेमचन्द की जिस सोच को और इस मुक्ति से जुड़े प्रेमचन्द के जिस सपने को हमने पिछली पंक्तियों में रेखांकित किया है, इस बिन्दु पर वह आदमीयत का तकाजा बनते हुए एक अन्तरराष्ट्रीय शक्ल पाता है, एक-मानवधर्म और एक-मानवसंस्कृति का सपना बन जाता है, कबीर के बाद प्रेमचन्द जिसके सबसे बड़े पैरोकार थे। यह महज संयोग नहीं है कि मध्यकाल की समूची धार्मिक और मजहबी संकीर्णता के बीच, एक कबीर ऊँचे स्वरों से अपने को 'ना हिन्दू ना मुसलमान' घोषित कर सके और अपने समय की सारी धार्मिक तथा साम्प्रदायिक कटुता के बीच, दूसरे, प्रेमचन्द साहस के साथ कह सके कि 'न मैं हिन्दू हूँ और न मुसलमान, मैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक इन्सान हूँ।'[६] इस प्रकार, साम्प्रदायिक सौहार्द का सवाल प्रेमचन्द के यहाँ राष्ट्रीय मुक्ति से शोषित मनुष्यता की मुक्ति और फलतः एक सर्वहारा-संस्कृति तक व्याप्त हो जाता है। रचनात्मक तथा वैचारिक स्तर पर प्रेमचन्द की सारी जद्दोजेहद इसी सपने को साकार करने के लिए है।

७. अपनी रचनाओं में किसान-मजदूरों, औरत, अछूत तथा दूसरे साधारण जनों का पक्ष लेते हुए प्रेमचन्द उनके शोषण के खिलाफ जो भी आवाज उठाते हैं, उनके संघर्षों को जिन आयामों पर चित्रित करते हैं, वहाँ हिन्दू-मुसलमान जैसा कोई भेद नहीं है। जमीन्दारी शोषण का शिकार यदि मनोहर तथा बलराज हैं, तो बूढ़े कादिर मियाँ भी। सामाजिक मान्यताएँ यदि निर्मला और सुमन जैसी नारियों के सपनों को कुचलती हैं, तो उनकी चपेट में सकीना और सोफिया जैसी नारियाँ भी आती हैं। वेश्या-जीवन के नरक को भोगनेवाले तथा सुविधा-सम्पन्न हिन्दू-मुसलमान अमीरों की हविश का लक्ष्य बननेवाले हिन्दू-मुसलमान दोनों प्रकार के नारी-पात्र उनके यहाँ हैं और दोनों की व्यथा भी एक है।[७] प्रेमचन्द उनकी सामान्य व्यथा तथा एक जैसे शोषण को आधार बनाकर ही उनके मन में अपने अधिकारों के प्रति समान लौ जलाकर उन्हें संगठित करना और संघर्षशील बनाना चाहते हैं। उनके इन हिन्दू-मुसलमान पात्रों में साम्प्रदायिक भावना की, धार्मिक आवेश की, गन्ध तक नहीं है। वे अपने अनुभवों के बल पर अपनी समान नियति को पहचानते हैं और धर्म तथा उसे इस्तेमाल करनेवालों की अपनी खुदगर्जी को समझते हैं। 'कर्मभूमि' में पठानिन कहती है : 'धनी लोग हम गरीबों की बात क्या पूछेंगे? हालाँकि, हमारे नबी का हुक्म है कि शादी-ब्याह में अमीर-गरीब का खयाल न होना चाहिए, पर उनके हुक्म को कौन मानता है? नाम के मुसलमान, नाम के हिन्दू रह गये हैं। न कहीं सच्चा मुसलमान नजर आता है, न सच्चा हिन्दू।' प्रेमचन्द के ये हिन्दू और मुसलमान पात्र अपनी बेहतर जिन्दगी की लड़ाई एकजुट होकर लड़ते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन में सबकी समान शिरकत रहती है और उसके साथ लगे सुख-दुःख भी वे समान रूप से भोगते हैं।

८. प्रेमचन्द जानते थे कि देश की अधिकांश जनता अपढ़ तथा पिछड़ी हुई है और उसे सरलता से फिरकापरस्तों द्वारा बहकाया जा सकता है। यही कारण है कि उन्होंने साम्प्रदायिक सौहार्द के सवाल को अपनी कुछ रचनाओं में मुख्य विषयवस्तु के रूप में प्रस्तुत करते हुए आम जनता को उसके प्रति शिक्षित करने का प्रयास भी किया है। कहने की जरूरत नहीं कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान फिरकापरस्ती से लड़ने के लिए प्रेमचन्द का यह प्रयास कितना जरूरी था। 'करबला' नाटक उन्होंने हिन्दू-मुसलिम-एकता को मजबूत करने के लिहाज से ही लिखा। स्मरण रहे कि राष्ट्रीय आन्दोलन में राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में हिन्दू-मुसलमान-एकता की बात सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के समय स्वीकार की जाती है, किन्तु प्रेमचन्द उसकी अहमियत को सन् १९०८ ई० में ही भाँप लेते हैं, जब वे कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के उर्दू-अनुवाद की भूमिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिखते हैं। 'करवला' नाटक में वे मुसलमानों के साथ एक हिन्दू की कुरवानी भी दिखाते हैं और इस तथ्य को इतिहास-समर्थित भी कहते हैं। इतिहास-समर्थित वह न भी हो, किन्तु देश के तत्कालीन दौर में इस प्रकार की रचनाओं की कितनी जरूरत थी, इसे सरलता से समझा जा सकता है। वे इस नाटक की भूमिका में यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि नाटक लिखने में उनका मंशा 'पॉलिटिकल' भी रहा है। 'कायाकल्प' उपन्यास तथा कुछेक कहानियों में उन्होंने साम्प्रदायिक कटुता तथा साम्प्रदायिक सौहार्द की समस्या को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उनका मंशा लोगों को समस्या के प्रति जागरूक करने का ही रहा है। इन कहानियों में वे हिन्दुओं के लिए मुसलमानों की, और मुसलमानों के लिए हिन्दुओं की, कुरवानी को चित्रित करते हैं। 'कायाकल्प' उपन्यास में यह सब बड़े विशद रूप में उभरा है। यशोदानन्द की हत्या पर ख्वाजा महमूद आँसू बहा ही रहे थे कि उन्हें अहल्या के अपहरण का समाचार मिलता है। अहल्या स्वयं उन्हीं के बेटे द्वारा अपहृत की जाती है और उन्हीं के घर में छिपाई भी जाती है। ख्वाजा का बेटा अहल्या के साथ वदसलूकी करना चाहता है और अहल्या उसे जान से मार देती है। ख्वाजा साहब को जब सारी घटना का पता चलता है, वे कहते हैं : 'एक घण्टा पहले तक मैं उसपर निसार होता था, अब उसके नाम से नफरत हो रही है। उसने वह फैल किया, जो इन्सानियत के दरजे से गिरा हुआ था।' वे अहल्या की तारीफ करते हैं और कहते हैं, 'काश, इस मुल्क में ऐसी और लड़कियाँ होतीं!' मनोवैज्ञानिक तथा सहज भावना के स्तर पर इस प्रकार की वातें तथा चरित्र अविश्वसनीय तथा कोरे आदर्श चरित्र लग सकते हैं, परन्तु प्रेमचन्द जान-बूझकर तमाम ऐसा लेखन करते हैं, जो साम्प्रदायिक सौहार्द की दिशा में लोगों को शिक्षित करें, उन्हें सोचने को प्रेरित करें।

९. प्रेमचन्द के लेखन में जो एक ताकत तथा उनके समय के समाज और उसकी समस्याओं की प्रामाणिक छवि देख पड़ती है तथा जिस हद तक उनका लेखन हमें अत्यन्त आत्मीय तथा विश्वसनीय लगता है, उसका एक बहुत बड़ा कारण प्रेमचन्द की सेक्यूलर जेहनियत है। हम बल देकर इस बात को कहना चाहेंगे कि साम्प्रदायिकता की समस्या को उसके समूचे आयामों के साथ सोच और विचार का विषय बनाने के लिए और उसके माध्यम से कुछ अहम नतीजों तक पहुँचने के लिए हमें प्रेमचन्द और उनके लेखन के जैसा कोई दूसरा 'मॉडल' नहीं मिलेगा। वे इतने सेक्यूलर हैं कि बड़े सहज रूप में विना किसी हिचक या झिझक के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबके घरों में प्रवेश कर जाते हैं, उनकी दृष्टि इतनी साफ तथा उनके अनुभव इतने बारीक और पैने हैं कि वे हिन्दू हों अथवा मुसलमान अथवा ईसाई, सबके मानस को हमारे सामने पारदर्शी रूप में, उसके अपने सारतत्त्व के साथ प्रस्तुत कर देते हैं।

जनसाधारण के वर्ग के पात्र हों, अथवा मध्यवर्ग के, जमीन्दार हों अथवा ताल्लुकेदार, पण्डित हों अथवा मौलवी, हाकिम-हुक्काम हों अथवा पुलिस-कचहरीवाले, सबके दिमाग और सबकी जेहनियत प्रेमचन्द के सामने स्पष्ट है। उन्होंने अपने पात्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बेहिचक सभी वर्गों से लिये हैं, सभी कौमों से लिये हैं, कोई योजना बनाकर नहीं, समाज का अंग होने के नाते, उसके नाना स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हुए वे खुद-ब-खुद उनके उपन्यासों और कहानियों में आ गये हैं। यह एक जीवन्त चरित्र-सृष्टि है और शोषक या शोषित वर्गों से भले ही सम्बन्ध रखती हो, कुछेक अपवादों के, अधिकतर सेक्यूलर चरित्र-सृष्टि ही है। वहाँ हिन्दू, मुसलमान का कोई भेद नहीं है। कारिन्दे गौस खाँ के लिए कादिर भी उतना ही सहज शिकार है, जितना गाँव के दूसरे किसान; और पाँच वक्त नमाज अदा करनेवाले, नेम-नियम के पक्के, गौस खाँ की हत्या के बाद उसकी जगह नियुक्त किये गये कारिन्दे फैजुल्लाह के अत्याचारों से तंग आकर जब सुक्खू फैजुल्लाह के सिर पर चिमटा मारता है, तब उसे लेकर और जो कुछ हाय-तोबा हो, कोई साम्प्रदायिक सवाल नहीं खड़ा होता। प्रेमचन्द बड़े दत्तचित्त होकर इसका चित्रण करते हैं: 'सहसा चौधरी ने अपना चिमटा उठाया और इतने जोर से फैजुल्लाह के सिर पर मारा कि वह जमीन पर गिर पड़ा। फिर बोले, यही अदालत का खर्च है, जी चाहे और ले लो।' प्रेमचन्द के यहाँ आततायी और अत्याचारी को लेकर कोई फर्क नहीं है। हिन्दू-मुसलमान-चरित्रों को उनकी रहन-सहन, आचार-विचार और उनकी एक-एक मनोवृत्ति को वे इतनी बारीकी से बिना किसी लाग-लपेट के पेश करते हैं कि सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उनकी अपनी जेहनियत हिन्दू-मुसलिम-मानसिकता से कितनी दूर है। जनसाधारण से आनेवाले हिन्दू-मुसलमान पात्र अपनी आस्थाओं के साथ उनकी सहानुभूति पाते हैं, आत्मीयता पाते हैं, जबकि दुष्ट मनोवृत्तिवाले बगुलाभगतों की खाल वे उतनी ही निर्ममता से उधेड़ते हैं, चाहे वे हिन्दू हों अथवा मुसलमान या कि ईसाई। हिन्दू, मुसलिम जेहनियत या इससे आगे की शेख और ब्राह्मणवाली जेहनियत से अपने को मुक्त न कर पानेवाले कुछ लोगों को शिकायत है कि प्रेमचन्द ने मुसलमान पात्रों और उनके जीवन तथा रीति-रिवाजों को जान-बूझकर भद्दे रूप में प्रस्तुत किया है, जैसा कि कुछ लोगों को यह शिकायत भी रही है कि उन्होंने ब्राह्मण पात्रों को सदैव उपहासास्पद बनाकर पेश किया है; किन्तु जो लोग प्रेमचन्द की रचनाओं और उनकी मानसिकता से भली भाँति परिचित हैं, वे जानते हैं कि प्रेमचन्द के यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है। वे किसी भी वर्ग, वर्ण, जाति, धर्म और सम्प्रदाय के खिलाफ नहीं हैं, उनका विरोध केवल टुच्चेपन से अमीर-गरीब के फर्क से, और झूठ, बेईमानी तथा फरेब से है; निकम्मेपन से, परजीवितता से, और कमीनेपन से है, उसका सन्दर्भ कोई भी धर्म हो, सम्प्रदाय हो अथवा उससे सम्बद्ध व्यक्ति हो, अन्यथा 'ईदगाह' कहानी के हामिद को जितने प्यार से प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया है, 'प्रेमाश्रम' के कादिर मियाँ की जिस मानवीय छवि को वे सामने लाये हैं, हामिद की दादी, पठानिन तथा ढेरों अन्य साधारण तबके के हिन्दू-मुसलमान पात्र जिस रूप में उनकी कृतियों में आये हैं, वह किसी से छिपा नहीं है।

प्रेमचन्द का सर्जनात्मक कृतित्व इस बारे में एक मिसाल है कि उसमें हिन्दुओं और मुसलमानों की जिन्दगी अपने पूरे फैलाव तथा प्रामाणिकता में, सहज बनकर आ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकी है, अन्यथा शिकायत तो यह भी की जाती है कि हिन्दू-लेखक मुसलमान-पात्रों और उनकी जिन्दगी को तथा मुसलमान-लेखक हिन्दू-पात्रों और उनके जीवन को नहीं छूते। हो सकता है कि उदार मानस के बावजूद हिन्दू-लेखक के मन में मुसलमान-जिन्दगी को पेश करने के प्रति और मुसलमान-लेखक के मन में हिन्दू-जीवन का चित्रण करने के प्रति कोई ऐसा संकोच-भाव होता हो कि वह उसे बिना किसी गलतफहमी का शिकार बने पेश भी कर सकेगा या नहीं; क्योंकि इसके लिए इन जिन्दगियों से परिचय ही पर्याप्त नहीं, वह निर्द्वन्द्व मानसिकता भी चाहिए, जो हिन्दूपन अथवा मुसलमानपन को पूरी तरह दफन कर चुकी हो।

जैसा कि हमने कहा, प्रेमचन्द इस बिन्दु पर अद्वितीय बनकर हमारे सामने आते हैं और लेशमात्र के भी संकोच या झिझक के बिना हिन्दू-मुसलमान-जिन्दगी में ऐसे प्रवेश करते हैं, गोया वह उनकी अपनी ही भोगी हुई जिन्दगी हो। हम कह चुके हैं कि अपनी कथनी में ही नहीं, अपने आचरण में भी सेक्यूलर आदर्शों को उतार सकनेवाला व्यक्ति ही इतना निर्भीक, सहज, निष्कुण्ठ और साफ हो सकता है कि वह हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सबको समान आत्मीयता तथा समान भाव से देख सके। प्रेमचन्द ऐसे थे, तभी वे साम्प्रदायिक सौहार्द जैसे सवाल पर एक 'मॉडल' बन सके हैं। यहाँ स्मरण रहे कि अपनी सारी मानसिक उदारता तथा गैर-साम्प्रदायिक दृष्टि के, हिन्दू-मुसलिम-एकता के कट्टर हामी, महात्मा गान्धी तक अपनी पहचान एक सनातनी हिन्दू के रूप में ही करा पाते हैं, उनका यह सनातन धर्म कितने भी उदार आशय का क्यों न हो, किन्तु प्रेमचन्द उनसे कहीं आगे बढ़कर न केवल हिन्दू या मुसलमान या ईसाई के रूप में अपना परिचय नहीं देते, अपितु एक इन्सान के रूप में ही अपनी पहचान को रेखांकित करते हैं। अब 'सेक्यूलरिज्म' यह नहीं, तो फिर और क्या है?

१०. प्रेमचन्द को अपने जीवन में धर्म और साम्प्रदायिकता-सम्बन्धी अपने बेबाक विचारों के कारण न केवल भाँति-भाँति की गलतफहमियों का शिकार बनना पड़ा, उनके व्यक्तिगत जीवन तथा आचार-विचारों पर तीखे आक्रमण भी किये गये। उन्हें साम्प्रदायिक घृणा का प्रचारक, ढोंगी, धर्म-विरोधी आदि-आदि, जाने क्या-क्या कहा गया। किन्तु, जैसा कि प्रेमचन्द का लेखन साक्ष्य देता है, उन्होंने अपनी मूलभूत आस्थाओं को लेकर कभी और किसी भी स्तर पर, कोई समझौता नहीं किया, बल्कि अपने ऊपर होनेवाले ओछे आक्रमणों का शक्ति के साथ जवाब दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं में ऐसे पात्र प्रस्तुत किये, जो धर्म, साम्प्रदायिकता तथा साम्प्रदायिक सद्भाव जैसे सवालों पर उनके अपने विचारों का प्रतिनिधित्व कर सकें, ओछी धार्मिक मानसिकतावालों को इन पात्रों की सुविचारित दलीलें निरुत्तर कर देती हैं। तेगअली, ख्वाजा महमूद, चक्रधर, अमरकान्त, मि० गजनवी, सलीम, सोफिया आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। दूसरी ओर, उन्होंने जन-साधारण से हिन्दू-मुसलमान पात्रों को चुनते हुए, उनके इन्सानी रूप को पूरी आत्मीयता से प्रस्तुत किया। इसके अलावा, दोनों सम्प्रदायों के बहुरूपियों तथा निहितस्वार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पात्रों को उनकी असलियत में उभारते हुए, उनके कार्यों तथा उनकी मानसिकता का पर्दाफाश किया और इस सारे कार्य में सदैव संयत, किन्तु अपनी आस्थाओं पर पूरी तरह दृढ़ रहे। उनकी सोच उनकी शक्ति-भर प्रखर से प्रखरतर होती गई। आर्यसमाज से जुड़े होने पर भी उन्होंने उसके पुनरुत्थानवाद को कभी नहीं स्वीकार किया, उसकी शुद्धि-सम्बन्धी विचारणा का तीखा विरोध किया, गरम दल के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी, विचारों के स्तर पर वे नरमदलीय सामाजिक प्रगतिशीलों के साथ रहे, हिन्दू होते हुए भी वे हिन्दूपन से जाने कितना ऊपर उठ सके और मुसलमान तथा ईसाई न होते हुए भी वे उनके घर-परिवारों के भीतर निर्भीकता से झाँक सके और उन्हें प्रामाणिक रूप में पेश कर सके। उनकी निगाह सदैव अपने लक्ष्य पर टिकी रही और वह लक्ष्य था——देश की सही मुक्ति। वे आम हिन्दू-मुसलमान जनता को, उसकी वास्तविक मुक्ति के सन्दर्भ में ही, उसकी आशाओं-आकांक्षाओं के साथ चित्रित करते रहे, बार-बार इस बात को रेखांकित करते रहे कि उसकी मुक्ति की मंजिल धर्म और संस्कृति के गलियारों से होकर नहीं, समान राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक हितों को लिये हुए और उनके लिए एकजुट होकर संघर्ष करते हुए, उस रास्ते से होकर ही पाई जा सकेगी, जो समाजवाद का रास्ता है और जिसे प्रेमचन्द अपने रचना-कर्म के पहले दौर में ही काफी कुछ पहचान गये थे। उन्हें विश्वास था कि इस मंजिल पर पहुँचकर हिन्दुस्तान का साधारण आदमी अपना सही वजूद पा सकेगा और तब उसे बाँटनेवाले धर्म और सम्प्रदायों की वास्तविकता भी उसके समक्ष स्पष्ट हो सकेगी और तभी वह उस अगली मंजिल की ओर विश्वास के साथ बढ़ सकेगा, जो प्रेमचन्द का अपना सपना भी थी, अर्थात् एक ऐसी समाज-व्यवस्था, जो वर्ग, वर्ण, धर्म और सम्प्रदाय, सबसे परे, एक-मानवधर्म और एक-मानवसंस्कृति पर आधृत होगी।

११. यह सही है कि प्रेमचन्द अपने जीवन में न तो राष्ट्रीय मुक्ति की अपनी परिकल्पना को साकार होते देख सके और न एक-मानवधर्म और एक-मानवसंस्कृति का उनका सपना ही उनके सामने सच साबित हुआ। जो मुक्ति आई, वह उनकी आकांक्षा के विपरीत हिन्दू-मुसलमानों को बाँटते हुए आई, किन्तु इसके मायने यह नहीं हैं कि प्रेमचन्द कोई आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा थे। प्रेमचन्द ने इस सपने को अपने समय के वस्तुगत यथार्थ के बीच से निकालकर अपनी आँखों में पाला था। यह उनका सपना ही नहीं था, हमारा अपना सपना भी है। प्रेमचन्द ने उसे साकार करने के लिए अपने समय में जद्दोजहद की और उनके बचे हुए कार्य को उनके बाद की पीढी सम्पादित करने के लिए संकल्पबद्ध है, उसे कर रही है। उनका दिखाया रास्ता आज और भी साफ होकर नई पीढी के समक्ष है। साम्प्रदायिक ताकतें, उन्हें पुष्ट करनेवाली सामन्ती जेहनियत तथा उससे साँठ-गाँठ करनेवाला पूँजीवादी प्रचारतन्त्र अब लड़खड़ा रहा है। अपने समय में इन ताकतों से संघर्षरत प्रेमचन्द के तमाम पात्र पुनः जीवित होकर आज और भी संगठित हो गये हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि शोषित मनुष्यता धर्म तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्प्रदाय की कृत्रिम दीवारों को गिराते हुए मनुष्यता की सही मंजिल तक पहुँचने के लिए आज और भी संकल्पबद्ध है। प्रेमचन्द अपने समय में, अपनी सीमाओं में, जितना कुछ कर गये, वह हमारा पाथेय है और उनके साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए किये गये कार्य के प्रति हम नतशिर हैं।

बी० टी० रणदिवे ने लिखा है कि जिस समय "हिन्दू-मुसलिम दंगों तथा उसमें हिन्दुओं की बुरी स्थिति की रोज दुहराई जा रही कहानियों से उत्तेजित होकर गान्धी तक ने एक बार यह कह डाला था कि 'औसत हिन्दू कायर होता है, औसत मुसलमान गुण्डा होता है....' ऐसी परिस्थिति में इस उल्लेखनीय लेखक ने अप्रतिद्वन्द्वी वाक्पटुता और व्यग्रता के साथ हिन्दू-मुसलिम-एकता के हितों की लगातार पैरवी की। उन्होंने इसके तमाम विरोधियों, विशेषकर हिन्दू-सम्प्रदायवादियों से लड़ाई की। उन्होंने हिन्दुओं के समक्ष मुसलमानों के दृष्टिकोण को पेश करने की कोशिश की तथा अल्पसंख्यकों के सन्देह को दूर करने के लिए उन्होंने मुसलमानों के दृष्टिकोण से खुद को सहमत बताया।".... "ऐसे समय में जब हिन्दू-मुसलिम-एकता के नारे के साथ काँगरेस रक्षात्मक स्थिति में चली गई थी; क्योंकि लगातार दंगे हो रहे थे, जिनके शिकार मुख्य रूप से हिन्दू बना करते थे तथा सरकारी तरफदारी बिलकुल नंगी होकर सामने आई थी, इन बड़े नेताओं की आलोचना करने के लिए वास्तव में दृढ विश्वास और अत्यधिक साहस की जरूरत थी। प्रेमचन्द ने इस साहस का परिचय दिया।" प्रेमचन्द के इस साहस पर हमें गर्व है, और हम प्रेरणा के एक अक्षय स्रोत के रूप में उसे स्वीकार करते हैं। हम पुनः दुहराते हैं कि साम्प्रदायिक सद्भाव पर किसी भी प्रकार की बातचीत के लिए प्रेमचन्द से बढ़कर 'मॉडल' हमें न मिलेगा।

सन्दर्भ-संकेत :

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० १८०।
२. 'जरूरत यह है कि जैसा हम पहले कह चुके हैं कि हम गलत इतिहास को दिल से निकाल डालें और देश-काल को भली भाँति विचार करके अपनी धारणाएँ स्थिर करें।'—'हिन्दू-मुसलिम-एकता' निबन्ध से।
३. इन संस्थाओं को परस्पर के दुःख-सुख से कोई मतलब नहीं, उनके पास ऐसा कोई सामाजिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, जिसे राष्ट्र के सामने रख सकें। उनका काम केवल एक दूसरे का विरोध करके सरकार के सामने फरियाद करना और इस तरह विदेशी शासन को स्थायी बनाना है। उन्हें किसी हिन्दू या किसी मुसलिम-शासन की अपेक्षा विदेशी शासन कहीं सहा है। वे ओहदों और रियायतों के लिए एक दूसरे से चढ़ा-ऊपरी करके जनता पर शासन करने में शासक के सहायक बनने के सिवा और कुछ नहीं हो पाते।—'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' से।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. (क) हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और इतिहास से।

(ख) प्रेमचन्द के लिए धर्म के दो रूप हैं—एक अमीरों का धर्म, दूसरा गरीबों का। गरीबों के धर्म को, चाहे गरीब हिन्दू हों, चाहे मुसलमान, वे अत्यन्त सहानुभूति से देखते हैं। अमीरों के धर्म को वे सन्देह से, कड़ी आलोचनात्मक निगाह से देखते हैं, उसे अपने व्यंग्य का निशाना बनाते हैं।'—रामविलास शर्मा

"....वह क्या जानें (बच्चे) कि क्यों अब्बाजान बदहवास चौधरी कायम अली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाये।—'ईदगाह' कहानी से।

५. 'पंच परमेश्वर' कहानी; अमरकान्त-सकीना-प्रणय; विनय-सोफिया-प्रणय; कादिर मियाँ का चरित्र आदि।

६. शिवरानी देवी से बातचीत : प्रेमचन्द : घर में, पृ० ९३।

७. सुमन, 'सेवासदन' की भोली, 'गबन' की जोहरा आदि।

△ बी–३, युनिवर्सिटी कॉलोनी
वल्लभविद्यानगर : ३८८–१२०
आनन्द (गुजरात)

●

'शोध' आद्योपान्त पढ़ गया। यथा नाम तथा गुण। विषय सुरुचिपूर्ण है। सम्पादक-द्वय धन्यवाद के पात्र हैं। किन्तु, गुलाब में काँटे की तरह, पृ० सं० ४० पर यह बात खटका गई कि 'ग्रैण्ड ट्रंक रोड पटना से पेशावर जाती है।' सत्यता तो यह है कि पर पटना से होकर गुजरती ही नहीं है। यह कलकत्ता से पेशावर जाती है और डिहरी-ऑन-सोन होती हुई निकल जाती है।

△ के १-१२५, शहरपुरा
सिन्दरी (धनबाद)

△ सुरेशनन्दन सहाय
(भूतपूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष,
बाल हिन्दी-पुस्तकालय, आरा)

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3485

यथार्थ के विकसित सन्दर्भ और प्रेमचन्द के उपन्यास

डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी

प्रेमचन्द के साहित्य के सन्दर्भ में आदर्श और यथार्थ के प्रश्न शुरू से ही विवादास्पद रहे हैं। अरसे से इसके बारे में चर्चा होती रही है। शुरू में यथार्थ और आदर्श के द्वन्द्व को लेकर अधिक बातें होती थीं। लेकिन, इधर दो-ढाई वर्षों के दरम्यान उनकी जन्मशती के क्रम में आयोजित विभिन्न विचार-गोष्ठियों में तथा इसके उपलक्ष्य में प्रकाशित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आदर्श और यथार्थ को लेकर कम बातें हुई हैं। गोया, प्रेमचन्द के सन्दर्भ में यह प्रश्न अब विचारणीय न हो अथवा इसका कोई हल ढूँढ़ लिया गया हो और उनके यथार्थ के स्वरूप को लेकर ही ज्यादा मत व्यक्त किये गये हैं। इस क्रम में उसके परम्परागत भेदों के अलावा कई तरह की नई कल्पनाएँ—नये आग्रह से युक्त उनके यथार्थ के लिए नई संज्ञाएँ भी सामने आई हैं।

वैसे आदर्श और यथार्थ के विवाद का जहाँतक सन्दर्भ है, इसकी शुरुआत भी, जैसा कि हम जानते हैं, स्वयं प्रेमचन्द ने की थी। अपने उपन्यास-विषयक लेख में प्रेमचन्द ने यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि उपन्यास की दो कोटियाँ होती हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी, और इसी क्रम में विस्तार से इनकी व्याख्या करते हुए और इनके बीच सामंजस्य की कल्पना करते हुए 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की उन्होंने एक नई श्रेणी विकसित की थी। प्रेमचन्द के साहित्य के सन्दर्भ में इसकी अक्सर चर्चा होती रही है। पुनः, यथार्थवाद के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की कुछ अपनी धारणाएँ भी थीं—यथार्थवाद तब उनकी निगाह में 'हमारी दुर्बलताओं, विषमताओं और क्रूरताओं का नग्न चित्र' हुआ करता था। वे उसे विश्लेषित करते हुए कहते हैं : 'यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नजर आने लगती है। आदर्शवाद, इसके विपरीत, हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं।' लेकिन, आदर्शवाद में जहाँ यह गुण है, वहाँ इस बात की शंका भी है कि हम 'ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें, जो सिद्धान्तों की मूर्तिमात्र हों, जिनमें जीवन न हो।' इसलिए, प्रेमचन्द अपनी ओर से यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि 'वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो—उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कह सकते हैं।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में बातें करते हुए आज हम उनकी इस स्थापना को ज्यादा अहमियत नहीं देते, लेकिन उसके साहित्य के विवेचन में एक लम्बे अरसे तक इसका प्रभाव रहा है और निस्सन्देह, आज से कुछ दशक पहले छायावाद के सुप्रसिद्ध समीक्षक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के ये विचार तब काफी उत्तेजक प्रतीत हुए थे कि 'कोई कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी।' इन्हें दो परस्पर-विरोधी विचार मानते हुए तब वाजपेयीजी ने काफी जोर देकर कहा था कि 'इनका मिश्रण किसी एक रचना में होना सम्भव नहीं है। साहित्यिक विवेचन में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती।' और, उन्होंने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया था कि 'प्रेमचन्द अपने विचारों और लेखन में आदर्शवादी हैं।' उनका यह निष्कर्ष जिस हद तक विवादास्पद है, उससे अधिक विवादास्पद और यान्त्रिक उनका यह 'मॉनिस्ट' दृष्टिकोण है कि 'इनका किसी एक रचना में मिश्रण होना सम्भव नहीं है।' सम्भव है, उनके मस्तिष्क में आदर्शवाद की पश्चिमी Idealism या भाववाद जैसी कोई धारणा रही हो, तो भी। प्रेमचन्द के मस्तिष्क में ऐसी कोई दार्शनिक धारणा नहीं थी और उन्होंने आदर्श को यथार्थ का प्रतिपक्ष न मानकर, इसकी अपर्याप्तता के लिए एक आवश्यक पहलू माना था। वे यह मानते थे कि महज आदर्श के साथ उसके बेजान हो जाने अथवा अमूर्त्त हो जाने का खतरा है, इसलिए वे उसे यथार्थ की बुनियाद पर ही खड़ा करना चाहते थे। प्रेमचन्द का आदर्श, इस प्रकार स्वयं में आदर्श न होकर वास्तविक था।

सोवियत-लेखक अनातोली रेमाव ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करते हुए ऐसे किसी प्रयोग को 'वास्तविक आदर्श' कहा है और इस सन्दर्भ में आदर्श और यथार्थ का सम्बन्ध दरसाते हुए उन्होंने गोर्की का जो उद्धरण प्रस्तुत किया है, वह इस प्रसंग के लिए काफी उपयुक्त है। गोर्की कहते हैं : 'जीवन किसी ऐसे आदर्श से प्रेरित होकर ही आगे बढ़ता है, जो भले ही आज न हो, लेकिन जिसके बारे में हम यह आशा करते हैं कि वह प्राप्य है।' पुनः, गोर्की का यह कथन भी यहाँ द्रष्टव्य है : 'वास्तविकता स्वयं किसी आदर्श की ही सिद्धि है और जब हम किसी वास्तविकता को परिवर्त्तित करना चाहते हैं, तब इसलिए कि जिस आदर्श का इसके लिए हमने निर्माण किया था, उससे हमें तुष्टि नहीं होती और अब हमारे पास कल्पना द्वारा प्रस्तुत एक नया और बेहतर आदर्श उपलब्ध है।' यह नया और बेहतर आदर्श इस प्रकार यथार्थ को एक नई परिणति देता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत आदर्श और यथार्थ के सामंजस्य की कल्पना निराधार नहीं प्रतीत होती, बल्कि जैसा कि गोर्की का अभिमत है, यथार्थ को विकसित करने की वह एक अनिवार्य और आवश्यक प्रक्रिया है। जिस साहित्यिक विवेचन का हवाला देते हुए वाजपेयीजी ने इसका निषेध किया था, अनातोली उसकी प्रक्रिया में प्रवेश करते हुए कहते हैं : 'यह (अर्थात्, लेखकीय आदर्श) मानव-मस्तिष्क की उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सक्रियता को व्यक्त करता है, जिसमें सिर्फ देखने की ही नहीं, वल्कि भविष्य-दृष्टि की भी क्षमता होती है; सिर्फ विम्वित करने की ही नहीं, वल्कि नई वास्तविकता के सर्जन की भी।' इस तरह वाजपेयीजी के विचार इस सन्दर्भ में आज अधिक तर्कसंगत नहीं दीखते। दूसरी ओर, उपन्यास-विषयक उक्त निवन्ध में प्रेमचन्द यथार्थवाद का जो विश्लेषण करते हैं, वह भी उसके वेहद सीमित अर्थ में है। प्रेमचन्द कहते हैं : 'यथार्थ-वाद अनुभव की वेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता होती है, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्वलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है।' वावजूद इसके, यथार्थ की रचनात्मक भूमिका के प्रति, खास तौर से उपन्यास-रचना में उसकी भूमिका को लेकर प्रेमचन्द के अन्तर्मन में कोई भ्रम नहीं था।

काफी पहले, सन् १९०६ ई० में ही, अपने उपन्यास-विषयक उक्त लेख के लिखे जाने के काफी पहले, प्रेमचन्द ने 'उर्दू ए मुअल्ला' में एक लेख लिखा था—'शरर और सरशार' और इसमें उर्दू के इन दो प्रसिद्ध उपन्यासकारों की तुलनात्मक आलोचना करते हुए साहित्य की एक नई विधा के रूप में उन्होंने उपन्यास को परिभाषित भी किया था, प्रेमचन्द ने तव उसे 'नॉवेल' या 'नये ढंग का किस्सा' कहा था। उसे परि-भाषित करते हुए वे कहते हैं : 'नॉवेल उस किस्से को कहते हैं, जो उस जमाने का, जिसका कि वह (अर्थात्, लेखक) जिक्र कर रहा है, साफ-साफ तसवीर उतारे और उसके रीति-रिवाज, अदव-कायदे, रहन-सहन के ढंग वगैरह पर रोशनी डाले और अलौकिक घटनाओं को स्थान न दे या अगर दे, तो उनका चित्रण भी इस खूबी से करे कि जन-साधारण उनको यथार्थ समझने लगे।'

प्रेमचन्द लिखते हैं : 'इसी का नाम है नावेल या नये ढंग का किस्सा।' फिर, अपने पूर्ववर्त्तियों के साहित्य से कुछ उदाहरण पेश करते हुए, वे कहते हैं : 'फसानए अजाएव या गुलवकावली या किस्स ए मुमताज या तिलिस्मे होशरुवा पुराने ढंग के किस्से हैं, चूँकि उनमें नये किस्से की गन्ध तक नहीं। लेकिन, मीर अम्मन देहलवी की पुस्तक वागो वहार या दास्ताने अलिफ लैला में कुछ नये ढंग के किस्से की खूवियाँ हैं। चूँकि, अपने जमाने की तहज़ीव पर वे धुँधली रोशनी डालती हैं।' ये शब्द प्रेमचन्द के हैं और इनपर गौर करने की जरूरत है, खास तौर से 'धुँधली रोशनी डालने' की वात पर। इस तरह, जैसा कि हम देखते हैं, प्रेमचन्द के मस्तिष्क में नॉवेल या नये ढंग के किस्से की जो मूलभूत विशेषता थी, वह उसकी यथार्थपरकता ही थी, उस जमाने का, जिसका उपन्यास-लेखक जिक्र कर रहा है, साफ-साफ तसवीर उतारना था। यथार्थपरकता इस तरह नॉवेल या नये ढंग के किस्से की रचना-प्रक्रिया में प्रविष्ट थी अथवा यों कहें कि प्रेमचन्द के अनुसार वह उसके 'एस्थेटिक्स' में समाहित थी।

शरर की रचनाओं से सरशार के नॉवेलों की तुलना करते हुए और उनकी विशेषता दरसाते हुए वे कहते हैं : 'सच तो यह है कि उनकी सब किताबें अपने जमाने की सच्ची तसवीरें हैं। सांस्कृतिक जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है, जिसपर सरशार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की जबान ने अपने निराले ढंग के फूल न बरसाये हों। यहाँतक कि मदारियों के खेल, भाँड़ों की नक़लें, बाजारू व शराब पिलानेवालियों के नखरे और ऐसी ही बेशुमार बातों की छोटी-छोटी बारीकियों में अद्भुत चित्रकार का कौशल दिखलाया है।' प्रेमचन्द फिर लिखते हैं : 'कहने का मतलब है कि जमाने की तसवीर में जितनी बातें शामिल हैं, उनपर सरशार के जादू-भरे कलम ने अपना चमत्कार दिखाया है।' इसके विपरीत, 'शरर के उपन्यासों की' प्रेमचन्द की दृष्टि में, 'यह सीमा है कि वे सभी पाठक को दस-पाँच सदियों पीछे ले जाते हैं और चूँकि शरर को इन बातों का व्यक्तिगत अनुभव नहीं है, इसलिए वह उस समय की घटनाओं का वैसा चित्र नहीं खींच सकते, जो असल से मेल खाये।'

प्रेमचन्द लिखते हैं : 'उनकी जानकारी का सबसे उपजाऊ साधन इतिहास है और ऐतिहासिक ज्ञान चाहे, जितना व्यापक क्यों न हो, निजी और प्रत्यक्ष निरीक्षण की बराबरी नहीं कर सकता।' फिर, शरर के ऐसे उपन्यासों की आलोचना करते हुए, जिनमें उन्होंने मौजूदा सोसाइटी की तसवीरें खींचने की कोशिश की है, उन्होने कहा है : 'अच्छा ही हुआ कि उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासों को ही अपनी कीर्त्ति का साधन बनाया; क्योंकि भगवान् ने उनको तसवीर खींचने की वह क्षमता ही नहीं दी, जिसके बिना प्रत्यक्ष घटनाओं की सच्ची तसवीर खींचना असम्भव है और ऐतिहासिक उपन्यासों ने उनकी इस कमजोरी पर परदा डाल दिया।'

शरर और सरशार-विषयक इस निबन्ध के बहुत-से उद्धरण मैंने साभिप्राय दिये हैं। इनसे सन् १९०६ ई० के प्रेमचन्द के साहित्यिक विवेचन की, खास तौर से व्यावहारिक विवेचन की क्षमता तो सामने आती ही है, इनके माध्यम से हमें यह ज्ञात होता है (और इस लिहाज से इनका महत्त्व अधिक है) कि प्रेमचन्द, जिसे उपन्यास या नये ढंग का किस्सा कहते हैं, उसके निर्माण में प्रत्यक्ष अनुभव को या वास्तविकता के सही परिज्ञान को वे कितना महत्त्व देते थे। इस क्रम में उपन्यास की कतिपय अन्य विशेषताओं का भी उन्होंने उल्लेख किया है---उसके 'भीतरी प्लॉट' और 'बाहरी प्लॉट' आदि की भी उन्होंने बातें की हैं और निस्सन्देह, प्रेमचन्द के कला-विवेचन पर काम करनेवालों के लिए ये काफी महत्त्व की बातें हो सकती हैं, लेकिन उपन्यास-रचना के लिए, जिस मुख्य वस्तु पर उन्होंने बार-बार जोर दिया है और जिसके आधार पर उन्होंने पहले के किस्सों अथवा पुराने ढंग के किस्सों से उसकी भिन्नता दरसाई है, वह वास्तविक चित्रण ही है। इस निबन्ध में कई मुहावरे इसके लिए प्रयुक्त हैं, जो असल से मेल खाये, साफ-साफ तसवीर उतारे, अलौकिक घटनाएँ भी चित्रित की जायें, तो वे यथार्थ प्रतीत हों आदि, और उसके मुख्य उपकरण---घटनाओं के प्रत्यक्ष साक्षात्कार, उनसे प्राप्त अनुभव हैं। शरर की आलोचना भी खास तौर से इसीलिए उन्होंने की है, चूँकि उनकी कृतियों में इन उपकरणों का अभाव है, निजी और प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, व्यक्तिगत अनुभव नहीं है आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यथार्थवाद की ऐसी किन्हीं असंगतियों या सीमाओं की ओर प्रेमचन्द की दृष्टि यहाँ नहीं गई है, जिनका उल्लेख उन्होंने कहानी तथा उपन्यासोंवाले अपने परवर्त्ती निबन्धों में किया है, बल्कि बहुत सारी वैसी बातों के लिए ही उन्होंने सरशार की तारीफ की है, जो आगे चलकर उन्हें सही नहीं प्रतीत होती। सरशार ने अपने असल से मेल खानेवाले चित्रण में बहुत सारे ऐसे विषय लिये हैं, जिनमें प्रेमचन्द बुराइयों का चित्रण करना कहते हैं अथवा जिनके कारण वे यथार्थवाद को 'बुराइयों का साहित्य' मानते हैं। शुरू की उनकी यह दृष्टि बहुत कुछ प्रारम्भिक यथार्थवादियों अथवा प्रकृतिवादियों जैसी ही है अथवा यों कहें कि काफी कुछ हद तक वह सरशार के उपन्यासों से भी निर्धारित है, लेकिन जैसी तेज प्रतिक्रिया उनके परवर्त्ती निबन्धों में दिखाई पड़ती है और जिसके कारण वे यथार्थवाद को बुराइयों के साहित्य के रूप में सीमित करते हैं, उसे देखते हुए हम ऐसा सोचने को बाध्य होते हैं कि यह सब कुछ अकारण नहीं रहा होगा, ऐसी किसी साहित्यिक सामग्री की ओर भी हमारी कल्पना जाती है, जो उसके मूल में रही होगी। यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय हो सकता है और मुझे ऐसा लगता है कि यथार्थवाद के नाम से गृहीत उस नई कथा-परम्परा के प्रति भी उनके अन्तर्मन में निस्सन्देह प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई होगी, जो किसी गम्भीर उद्देश्य से परिचालित नहीं थी।

डॉ० शिवकुमार मिश्र ने अपने एक निबन्ध 'प्रेमचन्द और उनकी सर्जना' के अन्तर्गत ऐसी कुछ रचनाओं की ओर संकेत भी किया है, जो जिन्दगी की विरूपता को, समाज की विकृतियों तथा गन्दगी को प्रस्तुत कर रही थीं और प्रेमचन्द उनसे विक्षुब्ध थे, लेकिन इसका कोई स्पष्ट उल्लेख यहाँ उनके सम्बन्ध में नहीं मिलता, न अमृतराय की पुस्तक में ही इसका कोई व्यवस्थित विवेचन दीखता है। लिहाजा, अभी इस क्षेत्र में काम करने की आवश्यकता है। इतना तो स्पष्ट है कि यथार्थवाद उनकी साहित्यिक चेतना का प्रमुख विषय था और प्रारम्भ से ही उनसे जुड़ा हुआ था, लेकिन उसके विकास की सामान्य दिशा क्या थी और किन प्रेरणाओं के तहत वह आदर्शवाद की ओर अग्रसर हुआ, यह स्वतन्त्र खोज का विषय है। शरर और सरशारवाले लेख में इसका (आदर्श का) कहीं कोई उल्लेख नहीं है। चरित्रों में विशेषता उत्पन्न करने की बात को प्रेमचन्द तब अधिक अहमियत भी नहीं देते। सुधार और सोद्देश्यता की बातों से भी इसका सीधा लगाव नहीं दिखाई देता; क्योंकि प्रेमचन्द के मस्तिष्क में ये बातें काफी पहले आ चुकी थीं। शरर और सरशार-विषयक निबन्ध के लिखे जाने के पहले ही वे आर्यसमाज आदि संस्थाओं के सम्पर्क में आ चुके थे और हिन्दू-समाज की बहुत सारी असंगतियों से, समाज में स्त्रियों की अवस्था से, खास तौर से विधवाओं की समस्या को लेकर वे काफी विक्षुब्ध भी थे। वे अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में—'प्रेमा' तथा 'वरदान' आदि में उनकी स्थिति पर रोशनी भी डाल रहे थे और बहुत कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १९१७-१८ ई० का 'सेवासदन' भी वस्तुतः इसी प्रवाह की रचना है;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोकि कहानियों में आदर्शवाद का अथवा जिसे प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं, आविर्भाव हो गया था, लेकिन यहाँ यथार्थ-चित्रण के साथ आलोचना और व्यंग्य की तीव्र धार सरशार जैसी ही दिखाई पड़ती है। 'प्रेमा' आदि में तो उसी की तरह के हल्के-फुल्के प्रसंग (रामकली और पूर्णा की वार्त्ता आदि) भी हैं, लेकिन 'सेवासदन' के ऐसे प्रसंगों में काफी सतर्कता बरती गई है और आलोचना तथा व्यंग्य की दिशा उनकी तुलना में यहाँ प्रमुख हो गई है।

डॉ० रामविलास शर्मा इसमें भारतेन्दु-युग के लेखकों का प्रभाव मानते हैं और 'सेवासदन' की प्रारम्भिक पंक्तियों को उद्धृत करते हुए कहते हैं: 'इस तरह का व्यंग्य भारतेन्दु-युग की अपनी विशेषता थी और प्रेमचन्द उनके सच्चे उत्तराधिकारी थे।' बहरहाल, इसमें एक साथ प्रेमचन्द की यथार्थवादी तथा सुधारवादी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं और आदर्शवाद अथवा आदर्शोन्मुखता जैसी कोई चीज उस तरह हावी होती नहीं दीखती, जैसी वह 'प्रेमाश्रम, 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' जैसी कृतियों में दिखाई देती है। प्रेमशंकर, सूरदास तथा अमरकान्त जैसे आदर्शवादी विचारों को वहन करनेवाले और उन्हें अग्रसर करनेवाले पात्र भी यहाँ नहीं दिखाई देते, जो हैं भी, उनमें आदर्श के प्रति वैसी निःसंग आस्था नहीं है, उनका स्वरूप काफी कुछ दुहरा है और प्रेमचन्द उनके प्रति अपेक्षाकृत वस्तुपरक भी हैं। वस्तुतः, आदर्शोन्मुखता से अधिक यहाँ आलोचना ही है और जहाँतक मैं समझ सका हूँ, प्रेमचन्द की कृतियों में 'सेवासदन' एकमात्र कृति है, जिसे आलोचनात्मक यथार्थ का परिदर्शक कहना अधिक उपयुक्त होगा। प्रेमचन्द यहाँ अकेले लड़ते हुए दिखाई देते हैं, उनके माध्यम-चरित्र यहाँ उस तरह के नहीं हैं, जैसे 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' आदि के हैं। सुमन परिस्थितियों से लगातार नियत और उन्हीं के बीच केन्द्रित है, 'सेवासदन' भी वस्तुतः उसकी नियति ही है। प्रेमाश्रम' के पात्रों से उसकी तुलना करें, तो एक बहुत बड़ा अन्तर दिखाई देता है। 'प्रेमाश्रम' के पात्र लगातार परिस्थितियों से संघर्ष करते दिखाई देते हैं, यथार्थ की सीमाओं को वे तोड़ते भी हैं और यथार्थ उन्हें जितना नियत नहीं करता, उससे अधिक आदर्श बनाता है। आदर्श के रूप में प्रेमशंकर बड़े भोड़े और बेहद कमजोर ढंग से उन्हें अपनी दिशा में--जमींदार, महाजन, सबका हृदय-परिवर्त्तन कराता हुआ--खींचने का एक अतिशय कृत्रिम प्रयत्न करता है। प्रेमचन्द ने उसकी अलग से रचना की है और बड़े ही अस्वाभाविक ढंग से उसे प्रस्तुत किया है। वह लखनपुर के व्यक्तियों के बीच उनके संघर्ष से विकसित नहीं होता, उनके यथार्थ के पहलू के रूप में नहीं, बल्कि अलग से अपने आदर्शों को लिये हुए, अपने समस्त ज्ञान के साथ वह लखनपुर की भूमि पर सहसा अवतरित होता है। वस्तुतः, लखनपुर को वह अपने नये अर्जित ज्ञान की प्रयोगशाला बनाना चाहता है। इस तरह, वह आदर्शवादी ही नहीं, 'एडवेंचरिस्ट' भी है और अजनबी भी; लखनपुर के शोषित, संघर्षरत लोगों पर वहाँ की अन्तर्विरोधमूलक भयावह वास्तविकता पर आदर्श के रूप में लादा गया वह बाहरी व्यक्ति (Outsider) है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और, ध्यानपूर्वक देखें, तो आदर्श और यथार्थ के इस परस्पर नियोजन में प्रेमचन्द की स्पष्ट सीमा दिखाई देती है, उनके अस्वाभाविक सामंजस्य में आदर्श को अलग से प्रक्षेपित करने में। वस्तुतः, आदर्श और यथार्थ के सामंजस्य की कल्पना गलत नहीं है, न कहीं से यह अवैज्ञानिक है, बशर्ते इसका नियोजन स्वाभाविक ढंग से हो। **लेनिन** अपने एक दार्शनिक निबन्ध में कहते हैं : 'मनुष्य को आदर्श की आवश्यकता है, लेकिन एक मानवीय आदर्श की, जो प्रकृति के अनुकूल हो—दैवीय न हो।' अर्थात्, उसका यथार्थ से पूरी तरह सामंजस्य हो अथवा वह उसी से विकसित हो और कहीं से अवास्तविक प्रतीत न हो अथवा यों कहें कि उसे उसी का एक पहलू प्रतीत होना चाहिए। प्रेमचन्द ने जहाँ आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की कल्पना की है, वहाँ स्पष्टतः, उनका यही अभिप्राय है, आदर्श की वहाँ कोई कृत्रिम अथवा विजातीय स्थिति नहीं है, बल्कि यथार्थ को संवर्द्धित करने का ही वह एक माध्यम है। लेकिन, अपने व्यावहारिक नियोजन में प्रेमचन्द कई जगह चूकते हैं। वे आदर्श को अलग से स्वतन्त्र रूप में खड़ा करके यथार्थ को उससे नियत करने की कोशिश करते हैं। 'प्रेमाश्रम' तथा 'कर्मभूमि' जैसे उनकी दो महत्त्वपूर्ण कृतियों में यही दुर्घटना हुई है। प्रेमशंकर तथा अमरकान्त—दोनों का नियोजन बेहद अस्वाभाविक ढंग से हुआ है, दोनों कृत्रिम और विजातीय पात्र हैं और निःसन्देह इनके निर्माण में प्रेमचन्द को वैसी सफलता नहीं मिली है, जैसी वास्तविक अनुभवों पर आधृत ग्रामीण जीवन के सामान्य पात्रों की रचना में उन्हें मिली है और इसी कारण इन दोनों उपन्यासों की बेहद वास्तविक और ठोस भूमि में जगह-जगह दरारें पड़ गई दीखती हैं। 'प्रेमाश्रम' का तो पूरा शीराजा ही अन्ततः ध्वस्त होता दिखाई देता है अथवा जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है—'प्रेमाश्रम के निर्माण के पहले ही प्रेमाश्रम की वास्तविकता समाप्त हो चुकी रहती है।'

लेकिन, 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द अपेक्षाकृत सतर्क हैं और अमरकान्त के प्रति कुछ वस्तुपरक और आलोचनात्मक रवैया भी अपनाते हैं, इसलिए इसमें 'प्रेमाश्रम' जैसी दुर्घटना तो नहीं होती, लेकिन अमरकान्त के चरित्र को लेकर, चूँकि उसमें आदर्श के साथ और भी कई बातों का घालमेल है (प्रेमशंकर जैसी उसमें एकनिष्टता नहीं है), उसमें भी कई जगह आरोह-अवरोह तथा अन्तराल दिखाई देते हैं। 'कर्मभूमि' को अलग-अलग खण्डों में विभक्त करने का यह भी एक कारण हो सकता है।

बहरहाल, 'कर्मभूमि' तक आते-आते प्रेमचन्द के सामने आदर्शवाद की बहुत कुछ सीमाएँ—खास तौर से उसकी अव्यावहारिकता दिखाई देने लगती है। अमरकान्त के चरित्र के इस पहलू को लक्ष्य करके उपन्यास के एक प्रमुख पात्र डॉ० शान्तिकुमार कहते हैं : 'तुम आदर्शवाद की धुन में व्यावहारिकता का बिलकुल विचार नहीं करते। कोरा आदर्शवाद खयाली पुलाव है।' अमरकान्त चौंककर कहता है : 'मैं तो समझता था, आप भी आदर्शवादी हैं।' प्रेमचन्द लिखते हैं : "शान्तिकुमार ने मानों इस चोट को ढ़ाल पर रोककर कहा—'मेरे आदर्शवाद में व्यावहारिकता का भी ख़याल है'।" बाद में,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस वार्त्ता का अन्त करते हुए और अमरकान्त को समझाते हुए वे कहते हैं : 'अभी तुम जो चाहो समझो, पर एक समय आयगा, जब तुम्हारी आँखें खुलेंगी और तुम्हें मालूम होगा कि जीवन में यथार्थ का महत्त्व आदर्श से जौ भर भी कम नहीं।' लेकिन, अमरकान्त की आँखें नहीं खुलतीं, वह यथार्थवादी तो नहीं बनता—उपन्यास का जहाँ अन्त होता है, वहाँ भयावह अँधेरे से घिरकर वह अध्यात्मवादी बन जाता है।

इन पात्रों की तुलना में हम प्रेमाश्रम और कर्मभूमि के संघर्षरत सामान्य पात्रों को देखें—मनोहर और बलराज को मुन्नी और सलोनी काकी को, कितने जीवन्त हैं वे! यथार्थ का भरपूर ताप और उद्वेग उनके अन्तर्मन में दिखाई पड़ता है। प्रेमशंकर और अमरकान्त उन जैसे सजीव क्यों नहीं दिखाई देते? बल्कि आदर्श और यथार्थ की भूमि पर एक साथ स्थित 'रंगभूमि' का सूरदास इनकी तुलना में अधिक सजीव और सप्राण दीखता है। ऐसा क्यों हुआ है? यह प्रश्न लेखकीय क्षमता से भी जुड़ा हुआ है।

एक अलग सन्दर्भ में बंकिमचन्द्र तथा रवीन्द्रनाथ से प्रेमचन्द के कृतित्व की तुलना करते हुए, का० इ० एम्० एस्० नम्बूदरीपाद ने इधर कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, हाल ही में प्रकाशित उनके एक वक्तव्य—'जनसंस्कृति क्या है?' में आनुषंगिक रूप से ये आई हैं। बंगाल के इन बुद्धिजीवियों के बारे में यह प्रश्न उपस्थित करते हुए कि 'ये आखिर थे कौन?' का० इ० एम्० एस्० ने यह मान्यता प्रस्तुत की है कि 'वे एक खास वर्ग से आते थे, नये-नये पैदा हुए, जमीन्दार-वर्ग से, जो अँगरेजों की ही उपज था।' का० इ० एम्० एस० के अनुसार, 'वे पूँजीवादी सामाजिक सुधार तथा सांस्कृतिक प्रगति के प्रतिनिधि थे, लेकिन किसान जनता से उनका कोई जीवन्त सम्पर्क नहीं था। बंगाली बुद्धिजीवियों के बेहतरीन प्रतिनिधि कलकत्ता में रहते थे और बंगाल के जिलों में स्थित अपनी जमीन्दारियों के लगान से होनेवाली आय पर निर्भर थे।'

लेकिन, उत्तरप्रदेश की स्थिति क्या थी, जहाँ प्रेमचन्द पैदा हुए थे? का० इ० एम्० एस्० इसका उत्तर देते हुए कहते हैं: 'उसके पीछे सन् १८५७ ई० के विद्रोह की परम्परा थी, जब उत्तरप्रदेश की सारी-की-सारी किसान-जनता ने विद्रोह किया था, जिसे दबा दिया गया। उत्तरप्रदेश में ऐसे हजारों-हजार परिवार थे, जिनमें से किसी-न-किसी ने विद्रोह में हिस्सा लिया था और मारा गया था।....यह चीज उत्तरप्रदेश के किसान की चेतना का हिस्सा बन चुकी थी, उत्तरप्रदेश पर बाद में क्रान्तिकारी आन्दोलन-का भी कुछ प्रभाव पड़ा। सन् १९२१ ई० तक उत्तरप्रदेश का किसान स्वाधीनता-आन्दोलन में आ चुका था।' का० इ० एम्० एस्० यह भी लिखते हैं: 'यह थी वह भूमि, जिसमें प्रेमचन्द पैदा हुए थे। वह गाँव में रहते थे। वह स्कूल के मास्टर थे। उनका सारा-का-सारा जीवन किसानों के बीच बीता। वह लखनऊ, इलाहाबाद या किसी दूसरे बड़े शहर के वासी नहीं थे, वह किसानों के साथ रहे, उनके सुख-दुःख में हिस्सा लिया। इसलिए, उनकी कृतियाँ उत्तरप्रदेश के किसानों को स्वर देती थीं।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का० इ० एम्० एस्० का यह विवेचन और इससे जुड़ा हुआ उनका निष्कर्ष प्रेमचन्द के रचनात्मक सन्दर्भ को समझने में निस्सन्देह काफी हद तक सहायक हो सकता है और उसी के साथ इस प्रश्न का भी उत्तर सामने आता है कि अपने सामान्य ग्रामीण पात्रों की रचना में वे क्यों इतने सफल रहे हैं और आदर्शों तथा सिद्धान्तों से निर्मित पात्रों की तुलना में, जो उस परिवेश की देन नहीं हैं, बावजूद इस तथ्य के कि उन्हें नायकत्व की हैसियत प्राप्त है, वे अधिक जीवन्त, सहज और सशक्त क्यों प्रतीत होते हैं। 'रंगभूमि' के सूरदास के सफल निर्माण का आधार भी वस्तुतः यही है कि आदर्शवादी होने के बावजूद वह उन्हीं की श्रेणी का एक सामान्य पात्र है। शहर के बाहर एक छोटे-से गाँव—पाण्डेपुर के छोटे दुकानदार, खोंचेवाले, ग्वाले और मजदूरों के बीच वह रहता है। वह प्रेमशंकर और अमरकान्त की तरह का बाहरी व्यक्ति नहीं है, वह अपनी लड़ाई खुद लड़ता है—अपनी उस पुश्तैनी जमीन की रक्षा के लिए, अपने उस घर को बचाने के लिए, जो उसके बाप-दादों की निशानी है; नवोदित पूँजीपति जॉन सेवक उन्हें अपने सिगरेट के कारखाने के लिए शासन और सत्ता के सहयोग से हड़पना चाहता है और सूरदास उसके लिए अन्त तक संघर्ष करता है और अदम्य रहता है। उसमें त्याग और अहिंसा के साथ अद्‌भुत आत्मबल और संघर्ष करने के लिए अपार धैर्य और आश्चर्यजनक क्षमता है। भैरों के द्वारा उसके झोंपड़े में आग लगा दिये जाने पर मिठुआ उससे पूछता है : 'दादा, अब हम रहेंगे कहाँ ?' सूरदास उत्तर देता है : 'दूसरा घर बनायेंगे।' मिठुआ फिर पूछता है : 'और जो कोई फिर आग लगा दे ?' सूरदास उत्तर देता है : 'तो फिर बनायेंगे।' मिठुआ बार-बार वही प्रश्न दुहराता है और सूरदास भी उतनी ही सहजता के साथ वही उत्तर देता जाता है। अन्त में, मिठुआ जब अपनी सांख्यिक रुचि का विस्तार करते हुए कहता है : 'और जो कोई सौ लाख बार लगा दे ?' सूरदास भी अन्त में उसी सहजता और धैर्य के साथ कहता है : 'तो हम भी सौ लाख बार बनायेंगे।' यह है सूरदास की अदम्य निष्ठा और अपराजेय भावना।

प्रेमचन्द के अन्य किसी पात्र में वैसी सहज निष्ठा नहीं दीखती। अपने इस आदर्श के लिए सूरदास ने अपना एक दर्शन विकसित कर लिया है—'खेल का दर्शन; निराश होना खिलाड़ियों के धर्म के विरुद्ध है, अबकी हार हुई, तो फिर जीत होगी'—सूरदास राजा साहब से कहता है। मरने के पहले जॉन सेवक से भी उसका इसी प्रकार का कथन है। उसके मरने के बाद प्रेमचन्द कहते हैं : '...और खिलाड़ी मैदान से चला गया !' और उसके मरने के बाद ही उपन्यास का प्रायः अन्त करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं : 'वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था, एक क्षुद्र शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे, गुण भी.... गुण केवल एक था—अन्याय देखकर उससे रहा न जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी' और इसलिए उसके आदर्श को निरन्तर एक जनाधार प्राप्त था। वह सीधे समस्याओं के बीच से विकसित होता था। यथार्थ से इस प्रकार वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविच्छिन्न था, बल्कि यों कहें कि उसके आदर्श को उसने आश्चर्यजनक रूप से मण्डित कर रखा था। इस सन्दर्भ में उसकी मृत्यु के कुछ पहले के ये दृश्य द्रष्टव्य हैं : अपने झोपड़े की रक्षा करते हुए वह निश्चल और निष्कम्प बैठा है, बाहर एक विशाल जन-समूह उसे घेरता जा रहा है और सामने पुलिस के जवान संगीन ताने खड़े हैं। दूसरा दृश्य ठीक गोली लगने के पहले का है––भैरों सूरदास को कन्धे पर बैठा लेता है। प्रेमचन्द लिखते हैं : 'इस जनसमूह में उसका सिर बालिश्त भर ऊँचा हो गया।' ऐसा लगता है, जैसे यथार्थ ने आदर्श को अपने कन्धे पर उठा रखा हो। इस तरह के दृश्य उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को––उपन्यास के भीतर की उसकी भूमिका को बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से व्यंजित करते हैं। कमोबेश परिवर्त्तन के साथ लगातार उसकी यह स्थिति रही है, यथार्थ-मण्डित आदर्श की अथवा प्रेमचन्द के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहें, तो आदर्शोन्मुख यथार्थ की––निरन्तर उसमें गुणात्मक विकास आता गया है। आदर्श और यथार्थ का इतना सफल नियोजन उनकी अन्य किसी भी कृति में नहीं है, इसलिए अन्त-अन्त तक उसके कथानक में उसका अनुस्यूत प्रवाह बना रहता है और 'रंगभूमि' में इस प्रकार प्रेमचन्द की इस कल्पना का उत्कर्ष व्यक्त हुआ है। वस्तुतः, उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकास का ही यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है और यह उसका दूसरा चरण है।

बाद की कृतियों में प्रेमचन्द स्वयं इसे उतना महत्त्व नहीं देते और यह एक आश्चर्यजनक परिणति है कि 'कायाकल्प' में दुबारा चक्रधर के रूप में प्रेमशंकर मूर्त्त हो गये दीखते हैं––वैसी ही बौद्धिक शालीनता और प्रयोगमूलकता उनके भीतर भी विद्यमान है, वहाँ दूसरी परिणति उसी के समानान्तर वर्ग-विरोध और वर्ग-संघर्ष के सन्दर्भ प्रखर हो गये दीखते हैं। अलावा, प्रेमचन्द-साहित्य में एक नई बात सामूहिक हड़ताल की कल्पना के रूप में सामने आती है। रानी देवप्रिया के कायाकल्प की बात तो वस्तुतः एक विच्छिन्न और अलग से आरोपित प्रसंग है, उसकी तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व मनोरमा का दिखाई पड़ता है––वह 'गबन' की जालपा का पूर्वरूप प्रतीत होती है और आदर्श की तुलना में वह यथार्थ को अधिक महत्त्व देती है। चक्रधर का आदर्शवादी व्यक्तित्व उसे प्रभावित करता है, लेकिन नियत नहीं करता; प्रारम्भ में ही वह उनसे तर्क करते हुए कहती है : 'आदर्श आदर्श ही रहता है, यथार्थ नहीं हो सकता।' अलावा, 'कायाकल्प' में इस देश के समकालीन जीवन-सन्दर्भों और राजनीतिक परिदृश्यों का प्राय: सर्वत्र उल्लेख मिलता है––इस देश की सामन्तवादी और साम्राज्यवादी ताकतों की गँठजोड़ की बात तो पहले भी आ चुकी थी 'प्रेमाश्रम' में, 'रंगभूमि' में, लेकिन इसमें और स्पष्टता के साथ वह वर्णित है––विशाल सिंह के राज्याभिषेक के अवसर पर, और उसी क्रम में गरीब किसानों और ग्रामीण मजदूरों के संघर्ष का भी अतिशय प्रभावकारी चित्र यहाँ मिलता है, जेलों में होनेवाले अत्याचारों का भी काफी खुलकर यहाँ वर्णन किया गया है, पुनः साम्प्रदायिक शक्तियों के विद्वेष और उनके परस्पर संघर्ष के भयावह प्रसंग भी पहली बार प्रस्तुत हुए हैं। पूर्ववर्त्ती कृतियों की तुलना में कायाकल्प की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथार्थपरकता का यह एक प्रमुख सन्दर्भ है। इस तरह प्रेमचन्द के साहित्य में यथार्थ-चित्रण की यह विकसित दिशा यहीं से आरम्भ हो जाती है, जो बीच में 'गबन' तथा 'कर्मभूमि' आदि कृतियों से होकर 'गोदान' तक पहुँचती है और अलग-अलग स्तरों पर इन कृतियों में पूर्णता को प्राप्त होती है। प्रेमचन्द के यथार्थवादी दृष्टिकोण का यह तीसरा चरण कहा जा सकता है और निस्सन्देह, उसे पहले चरण की तुलना में काफी विकसित कहा जा सकता है, उसके बुनियादी उपकरण—प्रत्यक्ष साक्षात्कार तथा उनसे प्राप्त अनुभव आदि का महत्त्व यहाँ भी है, लेकिन प्रेमचन्द उनके माध्यम से और गहराई में प्रवेश करते हुए यथार्थ के कतिपय सर्वथा नये सन्दर्भों की खोज करते हैं, अलावा वहाँ अपने पुराने विचारों को वे पीछे की ओर धकेलते हैं। प्रेमचन्द की चेतना इस दौर में, निस्सन्देह, अधिक संवेदनशील, वस्तुपरक और वैचारिक स्तर पर आश्चर्यजनक रूप से प्रखर और संघर्षशील हो गई दीखती है।

इस तीसरे चरण में, जैसा कि कर्मभूमि के प्रमुख पात्र अमरकान्त के आदर्शवादी चरित्र के विवेचन-क्रम में हम देख चुके हैं—प्रेमचन्द का आदर्शवाद से स्वयं विश्वास हटता प्रतीत होता है। उसकी व्यावहारिकता को लेकर वे स्वतः सन्देहशील हो उठे हैं और एक प्रकार का आलोचनात्मक रवैया उनमें दिखाई देता है। अमरकान्त को अक्सर अनावृत करते रहने की उनकी प्रक्रिया को हम अकारण नहीं कह सकते। इस देश के तीव्रतर होते सामूहिक जीवन के प्रसंगों से और उनके यथार्थ से लगातार वह विच्छिन्न और विघटित होता जाता है और उसका स्थान लेती जो नई शक्तियाँ दिखाई देती हैं, वे अधिक यथार्थपरक और क्रान्तिकारी कही जा सकती हैं। 'कर्मभूमि' का सलीम जो 'प्रेमाश्रम' के ज्वाला सिंह की ही अगली शृंखला है, अमरकान्त के गिरफ्तार होने के बाद अधिक सफलता से उस क्षेत्र के संघर्ष का संचालन करता है और जब वह भी गिरफ्तार होकर जेल में जाता है और अमरकान्त से वहाँ के किसानों की दशा के बारे में—उनपर होनेवाले जोर-जुल्म, मवेशियों की कुर्की और पुलिस के दमन आदि के बारे में बातें करता है, तब उसे यह देखकर विस्मय होता है कि 'इतनी भयानक परिस्थिति को सुनकर भी अमर इतना शान्त कैसे बैठा है' और उसे तत्काल यह आशंका होती है कि 'अमर जेल में आकर दब गया है।'

प्रेमचन्द इसके बाद लिखते हैं और यह अंश खास तौर से द्रष्टव्य है कि 'ऐसी दशा में उन तैयारियों को उसने छिपाना ही उचित समझा, जो आजकल दमन का मुकाबला करने के लिए की जा रही थीं।' यह है क्रान्तिकारी व्यवहार—अमरकान्त के ढुलमुल आदर्शवाद के अन्तर्गत, जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। आजादी के लिए संघर्ष करती पुरानी शक्तियों की—निस्सन्देह, अहिंसक और आदर्शवादी, निर्मम आलोचना हम 'गबन' में भी पाते हैं। देवीदीन की तद्विषयक दीर्घ आलोचना के ये अंश अक्सर उद्धृत किये जाते हैं, वह ऐसे बड़े-बड़े देशभगतों की, जो दिखाने के लिए दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लेते हैं और घर का सब सामान विलायती रखते हैं, जो भोग-विलास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में अन्धे हैं और देवीदीन के अनुसार देश का उद्धार करने के पहले अपना उद्धार कर रहे हैं, आलोचना करते हुए कहता है : 'तुम दिन में पाँच बार खाना चाहते हो और वह भी बढ़िया माल। गरीब किसान को एक जून सूखा चवेना भी नहीं मिलता। उसी का रक्त चूसकर तो सरकार तुम्हें हुद्दे देती है। तुम्हारा ध्यान कभी उनकी ओर जाता है ? अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।' फिर, इन बड़े-बड़े देश-भगतों के समानान्तर नई क्रान्तिकारी शक्तियों का दीर्घ आख्यान भी यहाँ प्रस्तुत हैं-- जनता के बीच उनके लिए व्यापक समर्थन का भी उल्लेख है। 'गबन' का उतरार्द्ध वस्तुतः उन्हीं से सम्बद्ध है। अलावा, यथार्थ के जिन नये सन्दर्भों की बात मैंने कही है, 'गबन' के अन्तर्गत वर्णित निम्न-मध्यमवर्गीय जीवन का यथार्थ ऐसे ही नये सन्दर्भों में है, उसके अन्तर्विरोध का जो सूत्र रमानाथ से होकर गुजरता है, प्रेमचन्द-साहित्य के अन्तर्गत, निस्सन्देह, वह एक नया आविर्भाव है और अन्त-अन्त तक ओझल नहीं होता।

प्रेमचन्द ने उसके विभिन्न पहलुओं को उसकी वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक परिणतियों को काफी विस्तार के साथ चित्रित किया है और अन्त में इस देश के व्यापक ऐतिहासिक प्रवाह से उसे जोड़ते हुए एक आश्चर्यजनक परिणति दी है और यहाँ भी उसका नया पहलू इस देश के आतंकवादी आन्दोलन के रूप में दिखाई देता है। 'गबन' के नयेपन का एक और पहलू जालपा के रूप में एक सर्वथा भिन्न नारी-चरित्र की अवतारणा है। डॉ० रामविलास शर्मा ने इसे 'भारत का जगता हुआ नारीत्व' कहा है, वह सुमन तथा निर्मला की नियतिवादी परम्परा को तोड़ती है और जैसा कि डॉ० शर्मा कहते हैं, 'वर्त्तमान की राह पर मजबूती से पाँव रखते हुए भविष्य की ओर वह निश्शंक देखती है।' उसे हम आदर्श कह सकते हैं, लेकिन उसमें कहीं से कोई 'यूटोपिया' नहीं है, अलावा, व्यावहारिकता और यथार्थ के साथ उसका अद्भुत सामंजस्य दीखता है। कर्मभूमि की मुन्नी को भी हम उसी की परम्परा से सम्बद्ध कर सकते हैं।

इधर हाल में प्रकाशित 'नाच्यो बहुत गोपाल' को इसलिए बहुत दाद दी जाती है और इस तथ्य को विज्ञापित किया जाता है कि उसमें समाज के उच्च वर्ण ब्राह्मण की एक शादीशुदा लड़की एक मेहतर के साथ प्रेम करती भाग खड़ी होती है, लेकिन प्रेमचन्द-साहित्य में काफी पहले से ही, जाने कितने दृष्टान्त मिलते हैं। स्वयं सुमन ब्राह्मण है और उसी शहर के अपने तमाम परिचितों और आदर्श प्रेमियों को चुनौती देती हुई वह कोठे पर जा बैठती है, गोकि उसके मूल में महज सेक्स जैसी कोई प्रेरणा नहीं है, जैसा कि निर्गुनिया देवी के पलायन-प्रसंग में दिखाई देता है। इसके विपरीत, पुरुष-वर्ग का नारी के प्रति परम्परागत सामन्ती दृष्टिकोण ही यहाँ प्रमुख है। 'कर्मभूमि' की नायिका मुन्नी ठाकुर है। (नायिका मैं अकारण नहीं लिख रहा हूँ) वह गोरे सैनिकों की हत्या करने के बाद अपने पति के तमाम आग्रहों की उपेक्षा करती हुई चमारों के गाँव में आश्रय ले लेती है और अमृतलाल नागर की निर्गुनिया देवी के काफी पहले स्वयं को वह **De-class**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर लेती है, किन्तु नागरजी की निर्गुनिया देवी De caste करती हैं और वह भी नहीं कर पातीं, उनका आभिजात्य वहाँ भी बरकरार रहता है, वे शराब और सुखोपभोग में खोई रहती हैं।

बहरहाल, यथार्थ के इन नये-पुराने सन्दर्भों तथा प्रश्नों की तुलना में जो प्रश्न प्रेमचन्द को अब भी सर्वाधिक उद्वेलित करता है, वह गाँव के गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों का ही प्रश्न है। इस दौर की रचनाओं में उन्हें लेकर वे खास तौर से चिन्तित और क्षुब्ध दिखाई देते हैं। 'गबन' के देवीदीन खटिक के वक्तव्य का एक संक्षिप्त अंश हम प्रस्तुत कर चुके हैं।

अप्रैल, १९३० ई० में 'हंस' के सम्पादकीय में प्रेमचन्द कहते हैं : 'हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा भाग अन्याय-पीडित है, सब छोटे-बड़े उसी को नोचते हैं, उसी का रक्त और मांस खा-खाकर मोटे होते हैं, पर कोई उसकी खबर नहीं लेता।' इस सन्दर्भ में ही वे 'कर्मभूमि' में दुबारा इस विषय को उठाते हैं और वैसे तमाम प्रश्नों को एक बार फिर हमारे सामने लाते हैं, जिन्हें वे काफी मजबूती के साथ प्रेमाश्रम में प्रस्तुत कर चुके थे। 'कर्मभूमि' के किसानों का मूल विषय भी प्रायः वही है, जमीन्दारी-शोषण के एक मुख्य उपकरण—लगान की माफी के सवाल को लेकर किया गया उनका विद्रोह, कुर्की तथा बेदखली आदि के प्रसंग भी उसके साथ जुड़े हैं (मुझे डॉ० शर्मा की इस स्थापना में कोई खास तथ्य नहीं दीखता कि प्रेमचन्द इन उपन्यासों में किसानों के जीवन से सम्बद्ध अलग-अलग प्रश्नों को उठा रहे थे)। हाँ, एक फर्क अवश्य यहाँ दिखाई पड़ता है, यहाँ मुख्य अन्तर्विरोध-विषयक उनकी दृष्टि में कुछ अन्तर आ जाता है। यहाँ मुख्य टकराहट साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था से होती है, 'प्रेमाश्रम' तथा 'कायाकल्प' में उसके सामन्ती रूप की अपेक्षाकृत अधिक प्रमुखता है, गो कि 'कायाकल्प' में भी राजा विशाल सिंह की उसपर निर्भरता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। उनके राज्याभिषेक के समय, उनके हितों की रक्षा करते हुए सीधे गोरे सैनिक और अफसर लड़ते हैं और गरीब किसानों तथा हरिजनों का पूरी नृशंसता से खून बहाते हैं, 'कर्मभूमि' में भी यह संघर्ष,मुख्यतः शासकीय व्यवस्था से ही होती है और यहाँ भी एक छोटा-सा अन्तर यह आ जाता है कि उसका संचालन भारतीय नौकरशाह करते हैं।

इस तरह, प्रेमचन्द यहाँ किसानों के आन्दोलन के चरित्र तथा उसके स्वरूप को काफी कुछ इस देश के राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बद्ध करके प्रस्तुत करते हैं। वैसे, उनका यह प्रयत्न 'प्रेमाश्रम' तथा 'कायाकल्प' में भी दिखाई पड़ता है। वे किसानों के संघर्ष को संगठित रूप देने और इस देश के राष्ट्रीय आन्दोलन से, खास तौर से उसके नेतृत्व से सम्बद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन यह विडम्बना भी बार-बार लक्षित होती है, बल्कि प्रखरतर होती जाती है कि उसके अहिंसक, आदर्शमूलक और समझौता-परस्त नेतृत्व से खास तौर से, उसकी प्रतिकार-रहित प्रणाली से उसका कोई सामंजस्य स्थापित नहीं होता। सत्ता और व्यवस्था गरीब किसानों और मजदूरों का बुरी तरह दमन करती है, वह पूरी निर्ममता से उनका संहार करती है और आदर्शवादी नेतृत्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हें कुछ भी नहीं करने देता। लेकिन, इस देश के वास्तविक-राजनीतिक जीवन में यह दुर्घटना दूसरे रूप में सामने आती है—गान्धीजी का आन्दोलन किसानों के प्रश्नों को गौण करता हुआ और उनकी समस्याओं को लगातार ओझल करता हुआ अग्रसर होता जाता है। इस देश के वामपन्थी दल भी इस दिशा में कोई कारगर पहल नहीं कर पाते। लिहाजा, प्रेमचन्द का यह विक्षोभ और इसकी प्रतिक्रिया किसान-जीवन से सम्बद्ध उनकी अगली कृति 'गोदान' में दूसरे रूप में व्यक्त होती है और यह आकस्मिक नहीं है कि 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' की रचना करने के बाद, उन्हीं तमाम लोगों के साथ, बल्कि उन्हें और प्रमुखता देते हुए प्रेमचन्द जब अपनी इस कृति के अन्तर्गत सामाजिक जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं, तब उनके सामूहिक, संगठित स्वरूप तथा उसके संघर्ष का कोई प्रसंग लक्षित नहीं होता और उनके प्रति सहानुभूति तथा संवेदना रखते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उन्हें भी इस स्थिति के लिए एक हद तक जिम्मेवार मानते हुए वे उनके प्रति एक आलोचनात्मक रवैया अपनाते हैं।

लेकिन, यह भी आकस्मिक नहीं है कि 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' तथा 'कर्मभूमि' के वे सामान्य ग्रामीण पात्र जो कहीं मनोहर, कहीं बूढ़े चौधरी और कहीं गूदड़ के रूप में बहुत ही संक्षिप्त भूमिकाओं के साथ कभी ओझल और कभी प्रत्यक्ष होते दिखाई देते थे, सहसा होरी के रूप में आ जाते हैं और प्रेमचन्द की रचनात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी तमाम सीमाओं और असंगतियों के, अपने पिछड़ेपन के बावजूद, नायकत्व की हैसियत प्राप्त करते हैं। इस तरह, इस देश के जीवन में न सही, प्रेमचन्द के रचना-संसार में उन्हें सही जगह प्राप्त होती है और उनके जीवन-वास्तव के सन्दर्भ को गौरवान्वित करने की जो प्रक्रिया 'प्रेमाश्रम' से शुरू होती है, यहाँ आकर मुकम्मिल हो जाती है। होरी इस देश के किसान-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रेमचन्द को इस कृति में केन्द्रीय स्थान ग्रहण करता है और प्रेमचन्द उसके माध्यम से इस देश के उन किसानों के जीवन का, जो अपना सामान्य जीवन जीते हुए भी इस सामन्ती व्यवस्था के बीच किस प्रकार शोषित और पीडित है, पुनः उसी की वैचारिक व्यवस्था उन्हें आज भी किस बुरी तरह नियत और निष्क्रिय रखती है और उनकी चेतना को कुन्द किये रहती है, उनके सामाजिक सम्बन्ध भी आज किस तरह उन्हें विजडित किये हुए हैं, इसका दीर्घ और विशद आख्यान प्रस्तुत करते हैं और इसी क्रम में प्रेमचन्द उस प्रक्रिया को दिखलाते हैं, जो उसे आर्थिक-सामाजिक स्तर पर निरन्तर विघटित करती नीचे की ओर धकेलती जाती है। गाँवों के जीवन के इस यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए, ऐसा लगता है, जैसे प्रेमचन्द स्वयं उसके कारणों की खोज और तलाश कर रहे हों। खोज की यह मानसिकता और यथार्थ के विभिन्न सन्दर्भों का इसके माध्यम से वस्तुपरक विश्लेषण ही—इस दौर की उनकी कई महत्त्वपूर्ण कहानियों में भी—विशेषतः 'पूस की रात' 'कफन' आदि में दिखाई देती है.... सबसे महत्त्व की बात यह है कि आदर्श का वैसा कोई अनुशासन अथवा आरोप यहाँ नहीं लक्षित होता, जो उनकी पूर्ववर्त्ती कृतियों में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तरह, जैसा कि हम देखते हैं, प्रेमचन्द का यह विकास आकस्मिक नहीं है, इसकी एक लम्बी प्रक्रिया रही है और अरसे तक उनकी रचनाओं में ऐसे बहुत सारे तत्त्व दीखते हैं, जो परस्पर मिले-जुले हैं। आदर्श और यथार्थ के उपकरण तो काफी समय तक एकत्र उनकी रचनाशीलता का अनुसरण करते हैं। इसलिए, तत्काल यह तय कर पाना कठिन हो जाता है कि प्रेमचन्द के इस विकास को क्या कहा जाय। ऊपर जिस खोज और विश्लेषण की बात मैंने कही है, उसकी भी एक लम्बी पृष्ठभूमि रही है, उसके साथ बहुत सारी असंगतियाँ—भूल और संशोधन भी रहे हैं और यह बात सिर्फ प्रेमचन्द के साथ ही नहीं, उन्नीसवीं शती के अन्त और बीसवीं शती के प्रारम्भ में उसके कई प्रारम्भिक दशकों तक, बहुत-से प्रमुख लेखकों के साथ यह घटित प्रतीत होती है, कइयों में तो बुनियादी ढंग के परिवर्त्तन भी आते दीखते हैं; लेकिन प्रेमचन्द के साथ यह एक बात बहुत साफ और स्पष्ट दिखाई देती है कि अपनी साहित्यिक चेतना के प्रारम्भिक दौर में भी, 'शरर' और 'सरसार'-विषयक उनका विश्लेषण वस्तुतः उसी काल का है, यथार्थ के प्रति उनमें अद्भुत आस्था रही है और उसी के बुनियादी उपकरणों को वे उपन्यास-रचना का आधार मानते हैं। वैचारिक स्तर पर भी उनमें सर्वत्र एक प्रकार की वस्तवादिता तथा वस्तुपरकता रही है, उनका आदर्श कहीं से किसी आध्यात्मिक धारणा से सम्बद्ध नहीं है, उसकी धार्मिक परिणतियों के तो वे कभी कायल नहीं रहे हैं। इसलिए, वैसी कोई संज्ञा, जो उनकी रचनात्मकता के आदर्शवादी पहलू पर अधिक जोर देती है, निस्सन्देह, वह एक प्रकार का भ्रम पैदा करती है और उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण को ढकने का उपक्रम करती है।

दूसरा भ्रमपूर्ण आच्छादन यथार्थवाद के परम्परागत प्रमुख भेदों को लेकर है और उत्साहवश कुछ लोग उन्हें 'समाजवादी यथार्थवाद' तक का लेखक मानते हैं। यह एक दूसरे प्रकार की अतिवादिता है—समाजवादी यथार्थवाद की बुनियादी आवश्यकता समाजवादी दृष्टिकोण को लेकर हम प्रेमचन्द के सम्बन्ध में शीघ्र कुछ तय नहीं कर सकते। (समाजवादी यथार्थवाद समाजवादी दृष्टिकोण के आधार पर जीवन तथा मानवीय सम्बन्धों की वास्तविकता की कलात्मक विधि से पुनःरचना है।—ब्रेख्त) इधर हाल में डॉ० शिवकुमार मिश्र ने काफी विस्तार से इस प्रश्न पर विचार करते हुए उनके यथार्थवाद को आलोचनात्मक यथार्थवाद से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है और उनका यह उपक्रम सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता।

प्रेमचन्द की कई औपन्यासिक कृतियों में आलोचनात्मक यथार्थवाद के बहुत सारे उपकरण मिलते हैं। 'सेवासदन', 'गबन' तथा 'कर्मभूमि' की तो यह एक नियामक प्रवृत्ति कही जा सकती है। लेकिन, आलोचनात्मक यथार्थवाद की व्याख्या करते हुए इसके एक केन्द्रीय पहलू—इसके बाहरीपन (बाहर से किया गया वर्णन) का लूकाच ने जिस प्रकार उल्लेख किया है, प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में 'सेवासदन' के अतिरिक्त वह अन्यत्र लक्षित नहीं होता। दूसरी कृतियों में प्रेमचन्द आश्चर्यजनक रूप से Involved दीखते हैं। वस्तुतः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द के साहित्य की यह एक केन्द्रीय विशेषता है कि वे कहीं से तटस्थ नहीं है, बल्कि राजनीतिक स्तर पर सम्बद्ध हैं। उनका यह Involvement उनकी कृतियों में दीखता है। इस देश के बहुसंख्य वर्ग के हितों को (गरीब किसान, खेतिहर मजदूर और निम्न-मध्यवर्ग तथा औरतों के एक विशाल भाग को केन्द्रित करते हुए) उन्होंने इसे लगातार प्रमुखता दी है, बल्कि उसी को ध्यान में रखकर वह निर्मित है और प्रारम्भ से अन्त तक उसके प्रति उनकी पक्षधरता व्यक्त हुई है, चन्द्रबली सिंह के अनुसार, ऐसी शक्तियों की पक्षधरता, जो इस देश को क्रान्तिकारी जनवादी दिशा में ले जाने के लिए प्रयत्नशील रही हैं; 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि सभी प्रमुख कृतियों में उनकी यह पक्षधरता व्यक्त हुई है।

लिहाजा, प्रेमचन्द के यथार्थवाद के लिए चन्द्रबलीजी के द्वारा दी गई संज्ञा 'क्रान्तिकारी जनवादी यथार्थवाद' अथवा 'जनवादी यथार्थवाद' अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है और ऐसा कहते हुए निस्सन्देह, पश्चिम के उन नव-यथार्थवादियों (Neo-realists) पर भी हमारी निगाह है, जो अपनी कला के आविर्भाव तथा स्वरूप दोनों को लेकर जनवादी आदर्शों से जुड़े होने की बात करते हैं और उसी के क्रम में मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा की रक्षा की बात भी उनके वैचारिक उल्लेखों में मिलती है; लेकिन उनकी कृतियों के माध्यम से जो मनुष्य आता है, वह बहुत कुछ हमारे यहाँ के समान्तरवादियों जैसा ही है, जो जीवन का दुर्वह बोझ ढोता तो है, लेकिन उसे उतार फेंकने के लिए सचेष्ट नहीं हो पाता। प्रेमचन्द के पात्रों में निरन्तर उससे मुक्त होने की छटपटाहट और सक्रियता है। अतः, चन्द्रबलीजी की तद्विषयक मान्यता की ताईद करते हुए ही मैं अपने इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

△ बलवतरा रोड, मझौआ
आरा (बिहार)

"शरत् आवारा रहे, पर अन्त में सुख-सुविधा से जिये। रवीन्द्र वैभव की जगमगाहट में जनमे-पले और सम्मान के ऊँचे सिंहासन पर सदा बैठे। प्रेमचन्द कंगाली में जनमे और भूखे कंगाली ही जीवन-भर रहे। उनके समाज ने उन्हें जीवन-भर ठोकरें मारीं और १२०० रुपल्ली का 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' और सम्मेलन का छूँछा सभापतित्व कई बार उनके सामने परोसकर भी हमने अनधिकारियों को सौंप दिया; पर न उनकी वाणी कभी कड़वी हुई, न उनकी मुस्कान मैली। मृत्यु से कुछ घण्टे पहले तक वे लिखते रहे—बिना बाहर देखे, झाँके और सहारा लिये। यहीं वे अपने युग के बड़ों में भी बड़े थे।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा और आज का साहित्य*

△ श्रीअरविन्द कुमार

इतिहास हर वैसी जिन्दगी का साक्षी होता है, जिसने समय को प्रभावित किया हो। इतिहास में प्रेमचन्द के उत्कीर्ण होने के पीछे सबसे बड़ा कारण यही रहा है। प्रेमचन्द अपनी आखिरी साँस तक आदमी के लिए लड़ते रहे, यह बात एक ऐसे देश के लिए बहुत महत्त्व रखती है, जो तरह-तरह की जनविरोधी शक्तियों से भरा पड़ा हो। प्रेमचन्द जब लिख रहे थे, तब यहाँ अँगरेजों को आये हुए लगभग दो सौ वर्ष बीत चुके थे, सामन्तवाद और पूँजीवाद अपनी जड़ें और मजबूत कर रहे थे और पूरे परिवेश में जनविरोधी ताकतें सर उठाकर खड़ी हो रही थीं। तब यह जरूरी था कि उनका विरोध किया जाय, उनके खिलाफ खड़ा हुआ जाय, पर यह आसान नहीं था। क्योंकि, एक तरफ तो अँगरेजों के खतरनाक इरादे थे, तो दूसरी तरफ सामन्तवाद-पूँजीवाद-गँठजोड़ की बन्दूकें थीं, जो ऐसे किसी भी विरोध को कुचल डालने के लिए कृतसंकल्प थीं। ऐसी स्थिति में प्रेमचन्द ने उन सारी जनविरोधी ताकतों के खिलाफ अपनी लड़ाई छेड़कर कम साहस का काम नहीं किया था। प्रेमचन्द ने अपने माध्यम से हाड़-मांस के एक आदमी की सही परिभाषा प्रस्तुत की थी कि अगर आदमी में आस्था है, तो उसे बरबाद भले ही कर डाला जाय, हराया नहीं जा सकता और लड़ाई में आदमी बरबाद तो होगा ही; पर मुख्य चीज है कि बरबाद होकर भी वह अपनी हार स्वीकार नहीं करे।

अक्सर यह कहा जाता है कि प्रेमचन्द आदर्शवादी थे, हृदय-परिवर्त्तन और सुधारवाद में विश्वास रखते थे। ठीक है कि यह सब उनके साथ था, पर हमें प्रेमचन्द के उस रूप को भी देखना चाहिए, जो उन्हें इन सबसे काफी आगे ले जाता है। यह कहा जाय कि अपनी पिछली धारा से जहाँ वे पूरी तरह अपने को काट लेते हैं; क्योंकि हर आदमी कहीं-न-कहीं से तबतक आदर्शवादी रहा करता है, जबतक कि जिन्दगी की कठोर सचाई से उसका सामना नहीं हो जाता। तभी उसे लगता है कि आदर्श की दीवार बालू की भीत की तरह होती है—झटका लगा कि ढह गई। प्रेमचन्द की जिन्दगी में भी यह आदर्श तभी तक सच बना रहा, जबतक कि सामाजिक स्थितियों की मार

* सन् १९८१ ई० के १२ अप्रैल को आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा में आयोजित 'प्रेमचन्द-जन्मशती-समारोह' के अवसर पर पठित आलेख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनपर नहीं पड़ी थी---बाद में उन्हें भी लगने लगा था कि आदर्श अच्छी चीज होता तो है, पर खोखला होता है कि जिन्दगी आदर्श के सहारे चलाई नहीं जा सकती, घसीटी भर जा सकती है। उनका यह परिवर्त्तन हमें उनकी बाद की रचनाओं में देखने को मिलता है, जहाँ 'सेवासदन' की स्थापना के बदले एक नये सामाजिक ढाँचे की परिकल्पना सामने आती है। प्रेमचन्द 'पुराना जमाना : नया जमाना' नामक अपने लेख में लिखते हैं : "स्वार्थपरता के तूफान ने बड़े-बड़े गारण्डील पेड़ों को ही नहीं, सोये हुए और लुटे हुए हरे-भरे मैदानों को भी जगा दिया है। अब एक फाकाकश मजदूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और धन-दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाना पसन्द नहीं करता। उसे अपने कर्त्तव्य चाहे न मालूम हो, लेकिन अपने अधिकारों का पूरा ज्ञान है। वह जानता है कि इस सारे राष्ट्रीय वैभव और प्रभुत्व का कारण मैं हूँ। यह सारा राष्ट्रीय विकास और उन्नति मेरे ही हाथों का करिश्मा है।" वे आगे लिखते हैं : "आनेवाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है। दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है, हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नहीं बचा सकतीं, जल्द या देर से, शायद जल्द ही हम जनता को केवल मुखर ही नहीं, अपने अधिकारों की माँग करनेवाले के रूप में देखेंगे और तब वह आपकी किस्मतों की मालिक होगी।" मुझे लगता है, यह अकेले प्रेमचन्द का परिवर्त्तन नहीं था, बल्कि उस पूरे युग का परिवर्त्तन था, जहाँ पुराने मूल्यों की चौखट में घिरा आदमी अपने पुनर्जन्म को लेकर बाहर आना चाह रहा था---उन इमारतों को वह तोड़ डालना चाहता था, जिनसे समय को, वर्त्तमान को खतरा उत्पन्न हो गया था और जो आदमी के विकास में आड़े आ रही थीं। प्रेमचन्द ने इसी आदमी को कन्धा दिया था, ताकि समय के बदलाव के बीच वह खड़ा हो सके और अपने अधिकारों के साथ अपनी परम्परागत चौखट लाँघ सके।

'प्रेमाश्रम' की विलासी, जमीन्दार के आदमी फैजू के आगे खड़ी हो जाती है और कहती है : 'ले कैसे जाओगे, कहे देती हूँ, इन जानवरों के पीछे लोहू की नदी बह जायगी, माथे गिर जायेंगे।' 'प्रेमाश्रम' का ही मनोहर कहता है : 'अपने मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है, बेइज्जत होकर जीने से मर जाना अच्छा है'... 'ना कारिन्दा कोई काटू है और न जमीन्दार कोई हौवा, जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं, तो धौंस क्यों सहें।' प्रेमचन्द ने अपने इन पात्रों के द्वारा उन सामन्ती संस्कारों को ललकारा है, जो दोनों हाथों से हमारे अधिकारों को लूटते जा रहे हैं और आदमी के उस बोध को ही खत्म कर देना चाहते हैं, जिसके सहारे वह अपनी पहचान कायम रख पाता है। यह षड्यन्त्र तभी टूटेगा, जब हमारे भीतर आग पैदा होगी। कुछ बदलने के लिए जूझना होता है, टकराना होता है, अपने भीतर के आग को बुझने से रोकना होता है। 'कर्मभूमि' का अमरकान्त कहता है : 'हमें एक क्रान्ति चाहिए, ऐसी क्रान्ति, जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर दे।' और फ़िर, सुखदा, जो आदमी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३६५५

के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाकर कहती है : 'आज तुम्हें तय करना है कि तुम अपने हक के लिए लड़ने को तैयार हो या नहीं।' प्रेमचन्द के भीतर की यह आग उस भविष्य के लिए थी, जो अँधेरे में घिरा था और सामने आने को छटपटा रहा था। प्रेमचन्द जानते थे कि आग जलती रहेगी, तभी कुछ हो भी सकेगा; क्योंकि चुप हो जाने का मतलब है हार जाना, परिस्थितियों के आगे घुटने टेक देना। प्रेमचन्द के आदमी को यह कभी मंजूर नहीं था।

प्रेमचन्द ने कभी अपने को छोटा नहीं माना, अपनी नजर में अपने को बौना नहीं बनाया, यह बात इस रूप में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि इस तरह उन्होंने अपने आदमी को छोटा नहीं होने दिया। अपने को पहचानो और जीवन के निर्माण में कूद पड़ो—भविष्य तुम्हारा होगा, प्रेमचन्द अपने पात्रों के द्वारा बराबर यह कहते रहे। इस सन्दर्भ में मैं **डॉ० शिवकुमार मिश्र** की कुछ पंक्तियाँ सामने रखना चाहूँगा—'कि प्रेमचन्द इसलिए, बड़े नहीं हैं कि उन्होंने बड़ा दुर्वह जीवन जिया, वे इसलिए बड़े हैं कि उस दुर्वह जीवन के बीच भी उन्होंने अपने मनुष्य को छोटा नहीं होने दिया। आज जरूरत उस जीवन्त आस्था को सहेजने की है, जिसे प्रेमचन्द जीवन भर सहेजे रहे और जो अब हमारी विरासत बन गई है। यही नहीं, सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि उस लड़ाई को उसके निर्णायक दौर तक पहुँचाकर उसमें जीत हासिल की जा सके, जिसे प्रेमचन्द अधूरी छोड़कर हमसे जुदा हो गये।'

प्रेमचन्द शुरू में आदर्शवादी-सुधारवादी क्यों थे, क्यों उन्होंने हृदय-परिवर्त्तन के सिद्धान्त को अपनाया था—इसलिए, कि उस समय गान्धी के नेतृत्व में चल रहा स्वतन्त्रता-आन्दोलन पूरे जोरों पर था और वह आन्दोलन अहिंसा और शान्ति को माध्यम बनाकर चल रहा था। यह रास्ता कहाँतक सही था, यह तो वैसे विवाद का विषय है, पर जैसा कि अधिकतर लोगों का मत है कि अँगरेज केवल गान्धी के सत्याग्रह से ही डरकर नहीं भागे थे, इसके साथ जो दूसरी बात थी, वह यह थी कि उन्होंने इस देश के भीतर हो रही सशस्त्र क्रान्ति की तैयारी का अन्दाजा भी लगा लिया था। लेकिन, गान्धी को विश्वास था, या यों कहा जाय कि इससे अलग कोई दूसरी बात वे मानने को तैयार ही नहीं थे कि किसी भी बड़ी ताकत को, जो हथियारों और दुर्भावनाओं से लैस हो, अहिंसा और शान्ति के अलावा किसी और रास्ते से खत्म किया जा सकता है। यह गान्धी का ही प्रभाव था कि प्रेमचन्द को भी पहले ऐसा ही लगा था कि सामाजिक स्थिति के उतार-चढ़ाव को झेलने का एकमात्र रास्ता अहिंसा और शान्ति का ही हो सकता है और यही कारण है कि 'रंगभूमि' का सूरदास अपने सत्याग्रह में पूरी तरह अहिंसावादी है, वह किसी भी तरह की हिंसा के पक्ष में नहीं, पर कुछ ही दिनों के बाद प्रेमचन्द का यह भ्रम टूट गया था।

इस भ्रम के टूटने का एक कारण यह भी था कि प्रेमचन्द के आगे न सिर्फ अँगरेज थे, बल्कि देश के कोने-कोने में फैला सामन्तवाद तथा पूँजीवाद भी था, जब कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गान्धी केवल अँगरेजों के विरोधी थे। इसीलिए, प्रेमचन्द को लगा था कि हृदय-परिवर्त्तन और शान्ति का रास्ता मौजूदा व्यवस्था को तनिक भी नहीं डिगा सकता कि यथार्थ की तल्खी के आगे यह सिद्धान्त खुद ही अपने को असंगत बना लेता है—जो एकमात्र रास्ता है, वह है हथियारों की लड़ाई का, दुश्मन को किसी भी तरह खत्म करने का। किसी बदलाव के लिए सामाजिक क्रान्ति होना बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'मंगलसूत्र' का देवकुमार जिस एकमात्र निष्कर्ष पर पहुँचता है, वह है कि दरिन्दों का मुकाबला करने के लिए इन्सानों को हथियारबन्द होना ही पड़ेगा।

ऐसा कहा जाता है कि प्रेमचन्द गुरबत में पले थे और यहीं उन्होंने सामन्ती कोड़े की मार भी सही थी—इस तरह जब उनके व्यक्तिगत संस्कारों को चोट लगी थी, तब वे बाहर आये थे। किसी भी तरह आये हों वे, पर जब आये, तब अपने तक ही सीमित नहीं रह गये, बल्कि पूरी सामाजिक उथल-पुथल में हिस्सा लिया, एक शोषित, पीडित, उपेक्षित, अधिकार-वंचित कौम को उस अँधेरे से बाहर निकालकर उसे उसकी रोटी, उसके अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष किया, इस बात को तो नजर-अन्दाज नहीं ही किया जा सकता।

हम देखें, तो पायेंगे कि प्रेमचन्द के पात्र तत्कालीन व्यवस्था के खिलाफ अपनी मुट्ठियाँ ताने खड़े हैं और ललकार कर कह रहे हैं: 'अब और नहीं सहेंगे हम तुम्हारा शोषण; हम तुम्हें पहचान गये हैं।' शत्रु की यह पहचान प्रेमचन्द के लेखन का सबसे मजबूत पक्ष है। तभी तो उन्होंने 'ईदगाह' के हामिद के हाथ में कुछ और थमाने के बदले चिमटा थमाया है। यहाँ हम गौर करें कि हामिद बार-बार चिमटे की उपयोगिता पर जोर देता है। 'सद्गति' कहानी का गोंड कहता है: 'खबरदार मुर्दा उठाने मत जाना, अभी पुलिस की तहकीकात होगी। दिल्लगी है कि एक गरीब की जान ले ली। पण्डित होंगे, तो अपने घर के होंगे।' 'दो बैलों की कथा' के हीरा और मोती भी तो उस अमानवीय सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ उठ खड़े होते हैं, जहाँ आदमी को श्रम के अनुकूल मजदूरी नहीं दी जाती और जिसका विरोध करने पर यातना के एक दौर से गुजरना होता है। हीरा और मोती उस अत्याचारी शासक के चंगुल में फँसी उस भोली और निरीह जनता को आजाद कराते हैं, जो कारागार में पड़ी अपने आखिरी दिन गिन रही है। इन बैलों का विद्रोह यह बतलाता है कि जल्लादी ताकतों को भगाने के लिए जरूरी है कि तुम अपनी मुट्ठियाँ तान लो, अपनी आँखों पर बँधी पट्टियाँ खोल डालो।' दढ़ियल झल्लाकर बैलों को जबरदस्ती पकड़ ले जाने के लिए बढ़ा। उसी वक्त मोती ने सींग चलाया। दढ़ियल पीछे हटा। मोती ने पीछा किया। दढ़ियल भागा। मोती पीछे दौड़ा। गाँव के बाहर निकल जाने पर वह रुका, पर खड़ा दढ़ियल का रास्ता देख रहा था। इस कहानी में एक चीज और गौर करने लायक है कि दुश्मन को परास्त करने के लिए संगठन की कितनी आवश्यकता है: 'उपाय यही है कि उसपर दोनों जने एक साथ चोट करें। मैं आगे से रगेदता हूँ, तुम पीछे से रगेदो, दोहरी मार पड़ेगी, तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाग खड़ा होगा। ज्यों ही मेरी ओर झपटे, तुम बगल से उसके पेट में सींग घुसेड़ देना। साँड़ को कभी संगठित शत्रुओं से लड़ने का तजुरबा न था। आखिर बेचारा जख्मी होकर भागा, और बेदम होकर गिर पड़ा।' आगे देखिए : 'गिरे हुए बैरी पर सींग नहीं चलाना चाहिए'....'यह सब ढोंग है, बैरी को ऐसा मारना चाहिए कि फिर न उठे।' यह सब इस ओर इशारा करता है कि प्रेमचन्द समझ गये थे कि जिन्दगी की कठोर सचाई के आगे 'नमक का दारोगा' का हृदय-परिवर्त्तन कोई मानी नहीं रखता। जिस सामाजिक व्यवस्था में आदमी अपने से ही बेगाना होता जा रहा हो और अपनी जिजीविषा खोता जा रहा हो, वहाँ ये सब चीजें एकदम कोरी हैं। जहाँ बुधिया की प्रसव-वेदना से बेखबर रहकर घीसू और माधव आलू के हिस्से का बँटवारा करने में लगे हों और फिर उसकी मौत पर कफन के पैसे से शराब पीते हुए, बुधिया को आशीर्वाद दे रहे हों, वहाँ प्रेमचन्द की यह विकास-यात्रा क्या स्वाभाविक नहीं प्रतीत होती? श्रम की चक्की में पिसकर अपनी मानवीय संवेदना को खो बैठे ये पात्र क्या हमारी भी संवेदना के हकदार नहीं? ये पात्र श्रम करने से आखिर क्यों भागते हैं—इसीलिए तो कि श्रम करने के बाद भी उन्हें श्रम का पुरस्कार नहीं मिलता!

आखिर प्रेमचन्द के सबसे ज्यादा लोकप्रिय होने के पीछे कौन-सा कारण है? इसपर हम गौर करें, तो देखेंगे कि प्रेमचन्द ने अपने युग का एकदम सही चित्र खींचा था। उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं लिखा, जो जीवन से मेल नहीं खाता हो और काल्पनिक हो—जो था, उसे ही उन्होंने ठीक-ठीक रख दिया था। हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द की रचनाओं में हमें उस युग का इतिहास देखने को मिलता है, उस समय के सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन का सही-सही वर्णन मिलता है। उस समय गाँवों की स्थिति ऐसी थी कि उसके बीच पला किसान किसी भी तरह की चेतना से एकदम अछूता था। वह यही जानता था कि यह सब अपने-अपने कर्मों का फल होता है कि एक गरीब हो जाता है और दूसरा अमीर। नहीं तो होरी की तरह गाय और एक बेहतर जिन्दगी की लालसा लिये वह मर-खप नहीं जाता। 'सवा सेर गेहूँ' के शंकर की तरह अपनी पूरी जिन्दगी नहीं तबाह कर डालता और न 'सद्गति' के दुखी की तरह अपना बलिदान कर देता। प्रेमचन्द के समय के गाँवों की स्थिति ठीक इसी तरह की थी, जहाँ आदमी अन्धविश्वास की बेड़ियाँ पहनकर अपने को ढोये जा रहा था।

प्रेमचन्द के लेखन की यह ईमानदारी गौर करने लायक है कि क्यों नहीं उन्होंने अपने इन पात्रों को इस सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति से आगे ले जाकर खड़ा कर दिया। इसलिए, कि ऐसा करना यथार्थ से कट जाना था, उस जिन्दगी से कट जाना था, जो सामने खड़ी थी। पर, इसका मतलब यह नहीं कि प्रेमचन्द यहाँ शोषण का विरोध नहीं करते। हम देखते हैं कि पहली स्थिति तो उस युग का चित्र-भर ही खींचकर रह जाती है, जबकि दूसरी स्थिति उस युग से निकलकर बाहर आने की है, जहाँ शोषण और अत्याचार के खिलाफ हथियार तक उठा लिया गया है। 'समरयात्रा' की नोहरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिल्ला-चिल्लाकर पूछती है : 'ईमान से बोलो, यहाँ इतने आदमी हैं; क्या किसी ने छह महीने से पेट भरकर रोटी खाई है ?' 'गोदान' की धनिया भी तो इस बगावत में शामिल है : 'हमने जमीन्दार के खेत जोते हैं, तो वह लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें ? उसके तलुवे क्यों सहलावें ?' इसी तरह, 'इस्तीफा' का फतहचन्द एक बार अपमान और तिरस्कार सहकर लौट तो जाता है, पर ज्यादा देर वह इसे अपने भीतर रख नहीं पाता, वापस आ जाता है और अपने अपमान का बदला ले लेता है।

प्रेमचन्द के लेखन की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति के इस अन्तर्विरोध पर कोई सवाल उठा सकता है कि एक ही समय में दो स्थितियों का चित्रण प्रेमचन्द ने आखिर क्यों किया। इसपर ध्यान दें, तो हम देखेंगे कि हर युग इस तरह के अन्तर्विरोधों से भरा होता है। आदमी किस तरह एक तरफ अपने पिछड़ेपन के चलते संज्ञाशून्य-सा हो गया है, तो दूसरी तरफ उसी के भीतर से वह नये बीज की तरह पनप कर धरती पर खड़ा भी हो रहा है, जहाँ वह अपनी ही पूर्वस्थिति को अस्वीकारता है। 'गोदान' में होरी भी है और गोबर भी। होरी अपनी स्थिति को अपने कर्मों का फल मानता है, जबकि गोबर होरी से अलग हटकर खड़ा है, अपनी मौजूदा स्थिति के लिए वह सामाजिक व्यवस्था को दोषी ठहराता है। यानी, आदमी अँधेरे से बाहर आ रहा है। वह समझने लगा है कि अबतक वह एक व्यापक षड्यन्त्र का शिकार था, जिसके अन्तर्गत उसे यही शिक्षा दी जाती रही थी कि यह सब अपने-अपने कर्मों का फल होता है कि बड़ा-छोटा, ऊँच-नीच, मालिक-नौकर, यह सब कुछ आदमी अपने साथ लेकर आता है कि वह खुद अपना भाग्यविधाता नहीं हो सकता, यानी दुहरा यथार्थ, यानी एक ही परिवार से दो पात्रों का उठाया जाना—एक को उठाकर उसकी स्थिति सामने रख देना, फिर उसी स्थिति का विरोध करने के लिए दूसरे पात्र को लेकर समाज की ओर बढ़ जाना। प्रेमचन्द की रचनाओं का यह महत्त्वपूर्ण पक्ष ध्यातव्य है।

पर क्या, प्रेमचन्द के बाद के साहित्य में इस तरह के महत्त्वपूर्ण पक्ष दिखाई देते हैं ? यह सवाल निश्चित रूप से उठ खड़ा होता है कि क्या प्रेमचन्द के बाद उनकी यथार्थवादी परम्परा का निर्वाह सचमुच हो पाया है और यदि हो पाया है, तो कहाँ-तक हो पाया है। आज प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के नाम पर इतना कुछ लिखा जा रहा है, यों कहा जाय, तबसे बहुत अधिक लिखा जा रहा है, पर उसमें से ठहर कितना पा रहा है ? बहुत कम। आखिर क्यों ? इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि आज का लेखक अपने युग की सामाजिक-सांस्कृतिक जिन्दगी को ठीक से व्यक्त नहीं कर पा रहा है। वह यह भूल गया है कि क्रान्ति की परिभाषा कमरे में नहीं गढ़ी जाती, उसे जनता के बीच शरीक होकर ढूँढ़ना होता है और इस तरह पूरे युग की सामाजिक-सांस्कृतिक हलचलों का भागीदार बनना होता है। वह कह तो देता है कि प्रेमचन्द के यथार्थवाद से अलग नहीं, यहाँ यह मान भी लिया जाय कि वह अलग नहीं, पर क्या सचमुच अपने पात्रों के साथ, उसकी स्थितियों के साथ वह ईमानदार है ? इस रूप में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कहा जाय कि उसमें 'अनुभव की प्रामाणिकता' जैसी चीज है? और, यही वजह है कि आक्रोश और खीझ के होते हुए भी वह जनता का आदमी नहीं हो पा रहा। हम गौर करें, तो पायेंगे कि आज व्यवस्था-विरोध के नाम पर ही अधिक लिखा जा रहा है, पर उसके बावजूद इसका एक बड़ा हिस्सा सिर्फ नारेबाजी और हो-हंगामे के बीच सिमटकर रह गया है।

प्रेमचन्द की रचनाओं को पढ़ें, तो हमें लगेगा, जैसे एक बहुत बड़ा फलक हमारे सामने आ खड़ा हुआ है, जहाँ तरह-तरह की स्थितियाँ हैं—गाँव से शहर, निम्नवर्ग से मध्यवर्ग तक की तमाम स्थितियाँ। पर, आज की अधिकतर रचनाओं को हम पढ़ें, तो पायेंगे कि एक खास वैयक्तिक दृष्टिकोण ही प्रमुख है, जैसे पात्रों में, परिवेश में कहीं कोई हलचल नहीं, बस एक वैचारिकता और उस वैचारिकता को तमाम लोगों पर लादता आज का लेखक! इस तरह यह कहा जाय, तो कुछ गलत नहीं कि वह सामाजिकता से वैयक्तिकता की ओर लौट रहा है। प्रेमचन्द की वैयक्तिकता उनकी सामाजिकता में इस तरह विलीन हो जाती है कि उसका पता नहीं चलता। प्रेमचन्द अपने भीतर के आक्रोश को अपने तक ही सीमित नहीं रखते, बल्कि उसका समाजीकरण करते हैं—अपने पात्रों के माध्यम से वे पूरे परिवेश की धड़कन को उघाड़ते हैं। आज का लेखक यथार्थ को उघाड़ता तो है, पर उससे पूरा परिवेश नहीं उघड़ पाता, यानी उसका समाजीकरण नहीं हो पा रहा। प्रेमचन्द के आदमी पर हम ध्यान दें, तो देखेंगे कि वह आदमी धीरे-धीरे अपने को 'डि-क्लास' करता गया है—अपनी विकास-यात्रा में अपने संस्कारों को वह छोड़ता गया है—अपनी मध्यवर्गीय मानसिकता के केंचुल को उतारकर उस युग की धड़कनों में प्रवेश करता गया है। एक महत्त्वपूर्ण सवाल है यहाँ कि क्या आज का लेखक प्रेमचन्द की ही तरह अपने संस्कारों से अपने को 'डि-क्लास' कर पा रहा है?

यहाँ मैं आज के सम्पूर्ण लेखन पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा रहा, मैं यह कभी नहीं कहता कि ऐसी कोई बात आज है ही नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ लोग अपने वर्गीय संस्कारों को छोड़कर आगे आ रहे हैं, जहाँ सम्भावना जैसी चीज जन्म लेती है और हम इस रूप में देखें, तो प्रेमचन्द की परम्परा का विकास भी हो रहा है, पर मेरे कहने का मतलब यह है कि यही काफी नहीं है। क्योंकि, थोड़े-से लोगों से एक पूरा युग प्रक्षेपित नहीं हो पाता—इसके लिए जरूरी होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा लोग युग की अनिवार्यता को महसूस करें और अपने पारम्परिक दायरे से बाहर निकलकर उस युग की सामाजिक स्थिति से अपने को जोड़ें। कोई सवाल उठा सकता है कि प्रेमचन्द तो अपने युग में अकेले ही थे और इस तरह कोई जरूरी नहीं कि ज्यादा लोग निकलकर सामने आयें। मैं कहूँगा कि तबसे, यानी प्रेमचन्द के समय से आजतक काफी समय भी तो बीता है, सामाजिक स्थितियाँ तेजी से बदली हैं, पूँजीवादी दुनिया के विस्तार के साथ किसान-मजदूर की जीवन-स्थितियों में भी फर्क आया है और इसी रूप में इसकी जरूरत आज और बढ़ गई लगती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यही स्थिति सन् १९५० ई० के आसपास भी रही थी, जब निश्चित रूप से अच्छी रचनाएँ लिखी गई थीं, जहाँ 'अनुभव की प्रामाणिकता' जैसी चीज थी या फिर जहाँ युग-यथार्थ उभरकर सामने आया था, पर ऐसी रचनाएँ कितनी थीं ? उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं। जैसे : भीष्म साहनी और यशपाल की रचनाएँ, रेणु और नागार्जुन की रचनाएँ, शेखर जोशी, अमरकान्त एवं मार्कण्डेय की रचनाएँ और फिर कुछ हद तक राकेश और कमलेश्वर की रचनाएँ। यहाँ हम ध्यान दें कि क्या इतने बड़े सामाजिक उतार-चढ़ाव के बीच इन थोड़े-से नामों का होना कुछ अजीब नहीं लगता और देखा जाय, तो उस युग की भी सबसे बड़ी त्रासदी यही रही, नहीं तो वह युग भी एक सम्भावना लेकर आया था और इसकी जरूरत भी थी; क्योंकि स्थितियाँ तेजी से बदल रही थीं और उस परिवर्त्तित यथार्थ के बीच आदमी एक नये रूप में दिखाई दे रहा है। उस आदमी की पृष्ठभूमि में दो-दो महायुद्धों की विभीषिका थी (भले ही ये महायुद्ध भारत की धरती पर नहीं लड़े गये थे), भारत के विभाजित नक्शे से निकलता धुँआ था, लहू और चरबी के दाग थे, पर आजादी के बाद के रचनाकारों का एक बड़ा हिस्सा इस सत्य को अपनाने से चूक गया था। देश के भीतर हो रहे परिवर्त्तनों को, जो शहरों से गाँवों तक की तमाम स्थितियों में हो रहे थे, जहाँ किसान-मजदूर की जीवन-स्थितियों में, उनके बोध में तेजी से फर्क आ रहा था, समेट नहीं सका था वह। क्यों ? इसलिए कि वह अपनी व्यक्तिवादिता का शिकार होता गया था, अपनी व्यक्तिगत कुण्ठा, घुटन, सन्त्रास और खीझ को प्रक्षेपित करने लगा था। अपने विशेष 'मूड्स' को प्राश्रय देने लगा था वह।

अनावश्यक रूप से ढेर सारे बिम्बों का प्रयोग आप इस दौर की रचनाओं में देखेंगे, जैसी खूबसूरती जबरदस्ती पैदा की जा सकनेवाली चीज हो। धूप का टुकड़ा अगर आलमारी के नीचे खरगोश की तरह दुबके रहने के बाद बाहर आता, तो कुछ बात भी होती, पर वह तो बराबर वहीं दुबका रहता है और यही कारण है कि प्रेमचन्द के बाद का यह लेखक-समुदाय प्रेमचन्द की विरासत को आगे नहीं ले जा पाया। इसलिए, आगे ले जाने की जो कुछ भी बात है, उसका श्रेय सिर्फ उन्हीं लोगों को जाता है, जो इन व्यक्तिवादी स्थितियों से अपने को बराबर बचाये रहे और सचमुच गाँव या शहर की सामाजिक-सांस्कृतिक जिन्दगी के बदलाव के बीच खड़े होकर उसे सामने लाते रहे। ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों का नाम मैं ऊपर ले चुका हूँ।

मैं आज के सन्दर्भ में एक बात और कहना चाहूँगा कि आज के लेखन के एक हिस्से पर एक दूसरा खतरा भी मँडराता दिखाई दे रहा है—वह है राजनीति का खतरा। यहाँ राजनीति से मेरा मतलब किसी राजनीतिक दृष्टिकोण से नहीं; क्योंकि राजनीतिक दृष्टिकोण एक सही रचना की अनिवार्य शर्त्त होता है, बल्कि संकीर्ण राजनीति या गुटबन्दी जैसी चीजों से है। आज ये चीजें हमारी रचनात्मकता में धीरे-धीरे घुसती जा रही हैं और हम इन्हें ही अधिक तूल देने लग गये हैं। हम यह भूल गये हैं कि प्रेमचन्द न तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी दलविशेष से सम्बद्ध थे और न ही उन्हें गुटबन्दी की राजनीति में विश्वास था। वे तो एक ऐसी कौम से प्रतिवद्ध थे, जो पीडित, उपेक्षित और अधिकार-वंचित थी।

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द राजनीतिक लेखन कर रहे थे, पर इसका मतलब यह कदापि नहीं कि वे किसी-दलविशेष के लिए लिख रहे थे। उन्होंने तो, जो कुछ सही लगा, उसे ही लिखा। जब कि आज क्या है ? हम अलग-अलग खेमों में बँटकर लिख रहे हैं। जीवन की मूल समस्या से सम्वद्ध जो रोटी की समस्या है, शोषण की समस्या है, अधिकारों की समस्या है और आगे बढ़कर कहें, तो जो उस खौफनाक वर्गभेद, रंगभेद, धर्मभेद और जातिभेद की समस्या है, उससे अलग हटकर हम अपने-अपने स्वार्थ की लड़ाई में अपनी पूरी क्षमता को नष्ट कर रहे हैं और इस रूप में अपने युग की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति को धोखा दे रहे हैं, यों कहा जाय कि प्रेमचन्द की संघर्ष-गाथा को या किसी भी रचनात्मकता को धोखा दे रहे हैं। हमें जानना चाहिए कि दल, गुट या कैम्प कोई मानी नहीं रखता। मुख्य चीज है आदमी के भीतर का वह बोध, जिसके सहारे वह युग की हलचलों का साझीदार बनता है। इसलिए, प्रेमचन्द पर बोल लेना, लिख लेना, प्रेमचन्द की परम्परा में साहित्य गढ़ना अगर जरूरी है, तो जरूरी यह भी है कि ऐसी तमाम स्थितियों से अपने को अलग किया जाय और इस तरह एकजुट होकर आज की सामाजिक स्थिति का साक्षी हुआ जाय। हम यहाँ ध्यान दें कि प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में एकजुट होने की बात पर कितना जोर दिया है, किस तरह उनके अलग-अलग संस्कारों में पले पात्र दुश्मन के खिलाफ खड़ा होने के लिए अपने को, एक दूसरे को जोड़ लेते हैं और ऐसी तमाम स्थितियों को झटक देते हैं, जो इसके आगे रुकावट बन सकती हैं। तभी, प्रेमचन्द के उस संघर्ष को, उनके भीतर की आग को, उस खूबसूरत दिन, उस खूबसूरत जिन्दगी के उनके सपने को उसके निर्णायक दौर में पहुँचाया जा सकेगा और इस तरह एक जीत हासिल की जा सकेगी।

△ नेहरूनगर, आरा

प्रेमचन्द उस समाज में जनमे, जो भूल रहा था कि वह पतित है, शोषित है। वे उस समाज में जनमे, जो भूल चुका था कि हममें कोई पतित, दलित और शोषित भी है। प्रेमचन्द ने पहली बार शोषितों को वाणी दी, उनके पक्ष का प्रबल समर्थन किया। संक्षेप में वे ही थे, जो देहातों को साहित्य में लाये, समाज में लाये, चेतना में लाये।

['ज्ञानोदय' से साभार]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द के उपन्यासों में भाषिक प्रयोग

△ डॉ० महावीरसरन जैन

प्रेमचन्द ने अपनी साहित्यिक यात्रा का आरम्भ आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की पगडण्डी से नहीं किया। उन्होंने अरबी-फारसी के भाषिक उपादानों से अनुप्राणित उर्दू में लिखना आरम्भ किया। 'असरारे मआबिद', 'हम खुर्मा व हम सवाब', 'किसना', 'रूठी रानी', 'जलवए ईसार', 'बाजारे हुस्न', 'नाकाम' (प्रकाशित नाम : 'गोशए आफ़ियत') 'चौगाने हस्ती' आदि उपन्यास इसके प्रमाण हैं कि प्रेमचन्द मूलतः उर्दू की साहित्यिक परम्परा के लेखक हैं। उनकी परवर्ती रचनाओं में भी उर्दू की साहित्यिक परम्परा के पर्याप्त उपादान समाहित हैं।

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में प्रेमचन्द ने सायास लिखना आरम्भ किया। 'बाजारे हुस्न' की रचना-समाप्ति के सम्बन्ध में उन्होंने जो पत्र (दे० प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग १; पृ० ६५) अपने मित्र श्रीदयानारायन निगम को लिखा, उसको पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू में नॉवेल को लिख लेने के बाद भी उनकी इच्छा होती थी कि उपन्यास पहले हिन्दी में प्रकाशित हो जाय।

'असरारे मआबिद' तथा 'रूठी रानी' का अनुवाद वे अपने जीवनकाल में न तो स्वयं कर सके और न अपने किसी मित्र से करा सके। अन्य उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हुए। 'हम खुर्मा व हम सवाब' का हिन्दी में अनुवाद या रूपान्तरण 'प्रेमा' शीर्षक से हुआ। यह कार्य उन्होंने स्वयं किया या अपने मित्र से कराया, यह विवादास्पद है। इतना निश्चित है कि इस समय तक उनका हिन्दी-ज्ञान नगण्य था। इसकी पुष्टि उन्हीं के पत्र द्वारा होती है (दे० प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग १, पृ० ३६)। 'जलवए ईसार' का हिन्दी-अनुवाद 'वरदान' तथा 'बाजारे हुस्न' का हिन्दी-अनुवाद 'सेवासदन' शीर्षकों से हुआ। 'नाकाम' को उन्होने हिन्दी में 'प्रेमाश्रम' के नाम से छपवाया; क्योंकि उर्दू में उसके 'हस्र' से वे चिन्तित थे (दे० प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग १, पृ० ९७)। यह बात अलग है कि बाद को 'नाकाम' उर्दू में 'गोशए आफियत' नाम से प्रकाशित हुआ। 'चौगाने हस्ती' का 'रंगभूमि' शीर्षक से अनुवाद करते समय प्रेमचन्द ने शब्दशः अनुवाद नहीं किया, अपितु उर्दू मसविदे में परिवर्त्तन-संशोधन किये तथा 'रंगभूमि' प्रकाशित हो जाने के बाद उसका उर्दू में अनुवाद मुंशी इकबाल वर्मा सेहर 'हथगामी' से करवाया। (दे० डॉ० कमर रईस : प्रेमचन्द का तनकीदी मुतालआ, पृ० २७८)

भाषा के मामले में प्रेमचन्द शुद्धतावादी न थे। भाषा बहता दरिया है, जिसमें अनेक धाराओं, स्रोतों और बरसाती नालों का पानी मिलता रहता है। इसी मान्यता के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण उन्होंने समाज में जनप्रयुक्त विविध भाषिक रूपों एवं अपने रचनाकाल की विशिष्ट स्थितियों एवं परिस्थितियों तथा स्वयं की भाषिक परम्परा एवं हिन्दी में स्थान पाने की महती इच्छा के कारण संस्कृत एवं अरबी-फारसी के जन-अप्रयुक्त भाषिक रूपों को भी प्रयुक्त किया है। इसी कारण उनकी भाषा वैविध्यपूर्ण है तथा शैली विविध-रूपा। इस निबन्ध में उनकी भाषा की शब्दावली के स्रोतों का ही अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। समाज में प्रचलित सभी प्रकार के शब्दों को उन्होंने प्रयुक्त किया है, भले ही वे किसी भी भाषा से आगत शब्द हों।

उर्दू से हिन्दी में अनुवाद करने तथा उर्दू एवं हिन्दी दोनों में लिखने के कारण एक ओर उनकी रचनाओं में अरबी-फारसी एवं संस्कृत के अतिवादी भाषिक प्रभाव परिलक्षित हैं, तो दूसरी ओर एक ऐसे भाषिक रूप के भी दर्शन होते हैं, जिसका निर्माण उर्दू की साहित्यिक परम्परा एवं आधुनिक साहित्यिक हिन्दी-परम्परा की अभिव्यक्ति-प्रणालियों एवं उपादानों के सम्मिलन से हुआ है। दोनों साहित्यिक परम्पराओं में व्याकरणिक व्यवस्थाओं एवं वाक्यीय संरचनाओं के स्तर पर भाषिक समानता होते हुए भी दोनों में शब्दावली एवं शैलीगत भिन्नताएँ प्रचुर मात्रा में हैं। वर्त्तनी तो दोनों की बिलकुल ही भिन्न है। उर्दू की साहित्यिक परम्परा ने अरबी-फारसी-शब्दावली एवं शैलीगत उपादानों को अधिक स्वीकार किया है तथा आधुनिक साहित्यिक हिन्दी-परम्परा ने संस्कृत तत्सम-शब्दावली एवं भारतीय आर्यभाषाओं की साहित्यिक परम्परा के शैलीगत उपादानों को अंगीकार किया है। प्रेमचन्द की मान्यता थी कि हिन्दी एवं उर्दू तत्त्वतः एक ही भाषा के दो रूप हैं—"आज हिन्दुस्थान के पन्द्रह-सोलह करोड़ लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियों में और इसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं, पर वह है एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है। हाँ, लिखने में फर्क बढ़ जाता है।" (कुछ विचार, पृ० ६४१) प्रेमचन्द ने कहीं-कहीं दोनों साहित्यिक परम्पराओं के अभिव्यंजनात्मक उपादानों को मिला-जुलाकर एक नई भाषाशैली का निर्माण किया है और कहीं दोनों परम्पराओं के भाषिक उपादान सहज रूप से मिल-जुल गये हैं। 'विपक्षियों की नेकनीयती', 'निरर्थक बकवाद', 'प्रफुल्ल बदन', 'कटु वाक्यों की नौबत', 'विपक्षी की जबान', 'उत्तर का इन्तजार', 'आखिर पेशी की नियत तिथि', 'परीक्षा का नतीजा', 'सभी श्रेणी के मनुष्यों से साबिका', 'वात्सल्य रस में शराबोर', 'वैधव्य का मजा', 'मुसीबत की आकाशवाणी', 'प्राणियों से साबिका', 'वाक्-चातुर्य गायब', 'किफायत का उपदेश', 'मुरव्वत और मुहालिजे की कल्पना', 'वाजिब शर्त्त अस्वीकार', 'लफ्जों की झंकार', 'बयान समाप्त', 'व्यवस्था के गुलाम', 'आक्षेप का जवाब', 'लियाकत की परीक्षा' जैसी शब्द-योजना इसका प्रमाण है।

प्रेमचन्द ने दो साहित्यिक परम्पराओं को मिलाना चाहा, इसके लिए प्रयास किया तथा कहीं-कहीं दोनों परम्पराओं के गंगा-जमुनी उपादान परस्पर 'मणि-प्रवाल' जैसी शैली में संग्रथित हो गये हैं—यह तथ्य भाषिक परम्परा के इतिहास में रेखांकित करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग्य है। इन दोनों साहित्यिक परम्पराओं के सम्मिलन से निर्मित किसी साहित्यिक परम्परा के निर्माण की चेतना यदि कभी जागरित हुई, तो उसके लिए प्रेमचन्द द्वारा प्रयुक्त 'खण्डहर की टूटी मेहराबें, गिरी हुई दीवारें, धूल-धूसरित मीनारें, इन लाशों को देखती' जैसी वाक्य-रचनाएँ प्रकाशस्तम्भ का कार्य करेंगी।

अरबी-फारसी-शब्दावली प्रेमचन्द की भाषा का अनिवार्य अंग है। इस शब्दावली के, प्रयोग की दृष्टि से, दो प्रमुख रूप हैं :

१. अरबी-फारसी से आगत ऐसे शब्द, जो हमारे जनसमाज में प्रयुक्त हैं तथा संकालिक स्तर पर हमारी भाषा के शब्दकोश के अंग हैं।

२. अरबी-फारसी के ऐसे शब्द, जिनका प्रयोग अरबी-फारसी-साहित्य-परम्परा से परिचित व्यक्तियों द्वारा किया जाता है तथा इस परम्परा से अपरिचित बहुसंख्य व्यक्तियों के लिए अप्रयुक्त एवं क्लिष्ट हैं।

जन-प्रचलित शब्द :

अरबी, फारसी, अरबी-फारसी तथा तुर्की के जन-प्रचलित शब्द तत्सम तथा तद्भव दोनों रूपों में प्रयुक्त हैं। इन्हें उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है :

(क) **अरबी-भाषा के शब्द :**

(अ) **तत्सम :** अदब, अदालत, अमीर, आखिर, आदमी, आसार, इन्सान, इजाजत, इन्कार, इमारत, इलाज, ईमान, ईमानदार, औसत इत्यादि।

(आ) **तद्भव :** अखबार (अख़्बार), अफवाह (अफ़्वाह), असल (अस्ल), इकरार (इक़्रार), इज्जत (इज़्ज़त) इरादा (इरादः), अलावा (इलावः) इशारा (इशारः), इस्तीफा (इस्तिफ़ा), उमर (उम्र), एतराज (एतिराज़), कस्बा (क़स्बः) इत्यादि।

(ख) **फारसी-भाषा के शब्द :**

(अ) **तत्सम :** अन्दर, अन्दरूनी, अन्देशा, अगर, अगरचे, अदा, अनार, आबरू, आबादी, आमदनी, आराम, आरामतलब, आलीशान, आसान, आस्तीन, इर्दगिर्द, उम्मीदवार इत्यादि।

(आ) **तद्भव :** आइन्दा (आइन्दः) आईना (आईनः) आजमाइश (आज़्माइश), आवाज (आवाज़), आसमान (आस्माँ), उम्मीद (उमीद) इत्यादि।

(ग) **अरबी-फारसी के शब्द :**

(अ) **तत्सम :** बेईमान, बेशक, बेशुमार, बेहिसाब, रोबदार, हराम, हैसियत, हैरान।

(आ) **तद्भव :** नजराना (नजरानः), नालायक (नालाइक़), फाकामस्त (फ़ाक़ः-मस्त), बदमाश (बदमआश), रोजीना (रोज़ानः), वसीयतनामा (वसीयतनामः), सूबेदार (सूबःदार), हरामजादा (हरामज़ादः) इत्यादि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(घ) तुर्की-भाषा के शब्द :

(अ) तत्सम : तलाश, नौकर, बहादुर, बेगम, सौदा।

(आ) तद्भव : अरमान (अर्मान), कलगी (कल्गी), कुर्क (कुर्कः), कुर्त्ता (कुर्त्तः) नागा (नागः), सौगात (सौगात) इत्यादि।

उपर्युक्त प्रकार की शब्दावली हिन्दी-भाषा का अंग हैं तथा इसका प्रयोग प्रेमचन्द की कोई शैलीगत विशिष्टता नहीं है।

उर्दू-परम्परा के लेखक होने के कारण उनकी रचनाओं में अरबी-फारसी की जन-अप्रचलित शब्दावली भी प्रयुक्त हुई है। 'प्रेमा' उपन्यास में यह प्रवृत्ति सर्वाधिक है। इस प्रकार के जन-अप्रचलित शब्दों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

आकबत, आगाज, इमकान, इस्लाह, इस्तालुक, उलूहियत, कदीम, तनाजा, तम्वीह, तरद्दुद, तलबी, तवक्कुल, तस्कीन, तस्वीह, तावान, तौफीक, तौहीद, दन्दाशिकन, दरेग, दरोगहलफी, दिलवस्तगी, दिलशिकनी, नगीच, नफ़्स, नहूसत, फरागत, बदखाह, मकरूह, मजलूमा, मजाहत, मन्दील, मसहलत, मामूल, मुजाहिम, मुवाहता, रूसियाह, लकव, लास्सान, वकार, वसीका, वसीले, शरीनी, सरफराज, हकतलफी, हादिस आदि।

'सेवासदन' एवं 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने जन-अप्रचलित शब्दों के कोष्ठक में हिन्दी-पर्याय भी प्रस्तुत किये हैं।

यथा : उलूहियत (ईश्वरत्व), कनाअत (सन्तोष), कदीम (नित्य)।

उर्दू से हिन्दी में अनुवाद करने के कारण उन्होंने संस्कृत-तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है। अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के व्यामोह में कहीं-कहीं उन्होंने—जन-अप्रचलित शब्दों का भी व्यवहार किया है। ऐसे स्थलों पर प्रायः अप्रतीतत्व एवं अवाचकत्व दोष आ गये हैं। कथा के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा भी पड़ी है। इस प्रकार की दुरूह एवं क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग 'वरदान' में सर्वाधिक हुआ है।

यथा : अमोदाधिक्य, अस्थिचर्मावशेष, अकृतकार्य, ऊर्ध्वगामी, किमधिकम्, चित्तोद्विग्नता, चित्तविनोदार्थ, द्वारांगण, मण्डलान्तर्गत, वाक्तीक्ष्णता।

जहाँ वे अरबी-फारसी शब्द के स्थान पर संस्कृत का उपयुक्त पर्याय नहीं प्रयुक्त कर सके हैं, वहाँ अर्थ का अनर्थ हो गया है। 'कसम' के लिए 'शपथ' का प्रयोग करने के कारण ही वे जो कहना चाहते हैं, उसके विपरीत अर्थ का बोध होता है :

'स्त्री ने उस दिन से अपने लड़के को मारने की शपथ खा ली।'

'परिहास' का 'उपहास' के अर्थ में तथा 'सहवास' का साथ-साथ वास करने जैसे व्युत्पत्त्यर्थ में प्रयोग शब्द-प्रयोग की हिन्दी-परम्परा से उनकी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं।

'रंगभूमि' के प्रकाशन के साथ उनके उपन्यासों की भाषा के स्वरूप में परिवर्तन आया है। अरबी-फारसी तथा संस्कृत की जन-अप्रचलित शब्दावली तथा तत्सम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषिक रूपों का प्रयोग कम होता गया है। अरबी-फारसी एवं संस्कृत के क्लिष्ट प्रयोगों को छोड़कर रचनाकार दोनों स्रोतों से आगत जन-प्रचलित शब्द-रूपों के प्रयोग की ओर आगे बढ़ता गया है। यदि संस्कृत-भाषा के रूपों का प्रयोग हुआ भी, तो सोच-समझकर हुआ है, त्रुटिहीन हुआ है तथा उससे शब्द-प्रयोग की क्षमता एवं दक्षता प्रकट हुई है। इसी प्रकार, 'गबन' जैसे उपन्यास में यद्यपि अरबी-फारसी शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है, तथापि अधिकांश शब्द जन-प्रचलित हैं। जन-प्रचलित शब्द-रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा', 'गबन', 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' में विशेष रूप से पहचानी जा सकती है।

जहाँ उन्होंने शहरी समाज का चित्रण किया है, वहाँ अँगरेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग किया है। जनसामान्य में प्रचलित अँगरेजी, पुर्त्तगाली आदि विभिन्न स्रोतों से आगत शब्दावली का उन्होंने प्रचुर प्रयोग किया है। उनके प्रत्येक उपन्यास के ५ से १० पृष्ठों में प्रयुक्त शब्दों का आवृत्तिपरक अध्ययन करने पर यह विस्मयकारक निष्कर्ष निकला है कि उनकी भाषा में अँगरेजी-भाषा से आगत शब्दों की संख्या अरबी-फारसी-शब्दावली की संख्या की अपेक्षा अधिक है। जब शहरी पात्र अँगरेजी-शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब उनका उच्चारण शुद्ध एवं मानक होता है, किन्तु जब ग्रामीण अशिक्षित पात्र अँगरेजी-शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब उनके तद्भव रूपों का प्रयोग करते हैं। प्रेमचन्द की कृतियों में भी यह अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है। एक ओर अर्जेण्ट, आइडियल, इनकम टैक्स, इण्ट्रोडक्शन, इण्ट्रोड्यूस, इण्डस्ट्रियलिज्म, इन्स्टिट्यूशन जैसे शब्दों का प्रयोग है, तो दूसरी ओर अलबम, इंजिन, कमेटी, कलेक्टर, गिलास, जण्टलमेन जैसे शब्द प्रयुक्त हैं। कुछ शब्दों की वर्त्तनियों के दो रूप प्रेमचन्द-साहित्य में उपलब्ध हैं। यथा : 'कालिज—कॉलेज, डिगरी—डिग्री, सुपरिण्टेण्डेण्ट-सुपरिंटैंडेंट, सेक्रेटरी—सैक्रेटरी।

शहरों के उच्चवर्गीय समाज के कृत्रिम वातावरण की अपेक्षा प्रेमचन्द ने भारतीय ग्रामीण समाज के यथार्थवादी जीवनानुभव एवं सामाजिक सत्य के उद्घाटन का अधिक प्रयास किया है। इस दृष्टि से उनके 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' एवं 'गोदान' अधिक उल्लेखनीय हैं, जिनमें ग्रामीण जीवन के चित्रण पर अधिक बल दिया गया है। भाषिक धरातल पर भी उन्होंने भावाभिव्यक्ति को यथार्थवादी बनाने के लिए, किसानों एवं मजदूरों के कच्चे आँगनों में बोली जानेवाली माटी की गन्ध से सिक्त जनपदीय एवं देशज शब्दावली का प्रयोग किया है। भाषा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण आभिजात्यमूलक न होकर जनवादी है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने विचार भी व्यक्त किये हैं : 'भाषा बोलचाल की लिखनी चाहिए, जिसमें तद्भव एवं सर्वसाधारण में प्रचलित विदेशी शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग हो।' (कुछ विचार, पृ० १४१) उनकी भाषा का सर्वाधिक प्रभावी आयाम इसी जनभाषा का है। रोमानी भाव-संवेदना के अनुकूल कोमलकान्त, मधुर, संस्कृतनिष्ठ, तत्समप्रधान शब्दावली तथा सूक्ष्म एवं अमूर्त्त उपमान-योजना, प्रतीक-योजना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं बिम्ब-योजना के लाक्षणिक प्रयोगों से भरपूर भाषा के द्वारा जिस समय काव्य-रचना हो रही थी, उस समय जीवन के समानान्तर चलनेवाली, जीवन्त स्पन्दनों से अनुप्राणित, 'जनभाषा' के प्रचुर तत्त्वों से निर्मित 'कथाभाषा' के निर्माण की ऐतिहासिक आवश्यकता को प्रेमचन्द ने पहचाना। पूर्वी उत्तरप्रदेश के ग्रामीण समाज के जीवन में जो तद्भवप्रधान अभिव्यंजक शब्दावली प्रयुक्त होती है, उसके आधार पर उन्होंने भाषा का निर्माण कर उपन्यासों एवं कहानियों को काल्पनिक एवं तिलस्मी दुनिया से निकालकर ठेठ देहाती जीवन की यथार्थवादी भूमि पर प्रस्थापित किया। उनकी भाषा-निर्माण की यात्रा लोकोन्मुखी होती गई, जिसका श्रेष्ठतम उदाहरण 'गोदान' की भाषा है। प्रेमचन्द की भाषा के मूल एवं केन्द्रीय स्वरूप में एक ओर संस्कृत के तद्भव एवं जन-प्रचलित शब्द-रूप हैं तथा दूसरी ओर देशज शब्दावली भी अपना आसन जमाये हुए है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

तद्भव एवं जन-प्रचलित शब्द-रूप : असगुन, आग, आँगन, आँच, आस, औतार, करम, कल्यान, कुमानुस, गाहक, गुन, चरचा, चरन, छन, जती, जतन, जनम, जस, जै, जोगी, जोतसी, जोधा, तीरथ, दुरगत, धरम, निछावर, निठुर, निगाह, निरलज, परचार, परजा, परतच्छ, परशाद, परान, पुन्न, पूरब, पौरुस, बरस, बिनती, बैद, भगती, भेस, मस्तक, मानुस, मूरत, राज, रात, रिन, लाज, सँदेसा, सपना, सपूत, समुन्दर, सराध, साँझ, सान्त, सिंगार, सिरी, सुदेशी, सुनहरी, सूरज आदि।

देशज शब्दावली : अगोरना, अपढ़, अँगी, उटंग, उड़ंछू, उड़नवाई, किरंटे, खंखड़, खजबजा, खटराग, खल्वाट, खुचड़, गच्चा, गपड़चौथ, गबरू, गलचोर, गौखा, गोंदरी, घनचक्कर, घाघ, घामड़, घिग्घी, घुड़की, घोंघाबसंत, चखौतिया, चघड़, चपरगट्टू, चरकटा, चुटैल, चुभकार, छबड़ी, छितिर-बितिर, छुट्टे, जटना, जाकड़, झमकड़ा, टुइयों, टुर्री, टिक्कड़, टुटपुंजिया, ठस्सो, तीता, दई, दलेल, दुहत्तड़, दोहत्थर, नकघिसनी, निगोड़ा, निहोरा, पखियाँ, पलेथन, पहलौठी, पिटौवल, पिट्टस, पुछत्तर, पोंगा, पौढ़, फरफंद, फिचकुर, बगटुट, बतबढ़ाव, बदहवास, बपुरी, बमचख, बम्बूक, बलैया, बिलाय, बिसूरा, बौखल, बोड़म, बौरी, बौरे, भकाभक, भन्ना, भभ्भड़, भिनसार, भुक्खड़, भुग्गा, भुन्नास, भुरकुस, मघावट, मरभुक्खे, माहुर, मुई, रगेटा, रमझल्ला, रहैया, रार, रिमियाँ, रिसा, लंगेतंगे, लग्गा, लड़कोरी, लबारिए, लल्लोपत्तो, लुगइया, लैनडोरी, लौंदा, शिप्पा, सुमा, सौंह, हक्कबका, हत्तेरे, हरबोंग, हियाव, हुमच, हौवा आदि।

इस निबन्ध में केवल शब्दावली-विवेचन ही किया गया है। भाषा की व्याकरणिक व्यवस्थाओं, वाक्यीय संरचनाओं एवं रचनात्मक प्रत्ययों के स्रोतों के सम्बन्ध में भी कमोबेश यही स्थिति है।

यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं जनवादी था। वे जनसामान्य के बीच बोली जानेवाली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषा के हिमायती थे। इस कारण, उन्होंने क्षेत्रीय उपभाषा के रूपों का प्रयोग किया है। उन्होंने: अरबी, फारसी, उर्दू, अँगरेजी, हिन्दी तथा उपभाषाओं--भोजपुरी, अवधी, राजस्थानी आदि स्रोतों से भाषिक उपादानों को ग्रहण किया है। उनमें भाषा-निर्माण की मौलिक क्षमता भी हैं, जिसके कारण उन्होंने अनेक मौलिक शब्द-रूपों का निर्माण किया हैं। इस दृष्टि से 'जुर्मानालय' एवं 'लेवता' शब्द-प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

आरम्भ में प्रेमचन्द उर्दू-परम्परा के ही लेखक थे और उन्हें हिन्दी का ज्ञान बहुत कम था तथा हिन्दी की परम्परा से वे उतने परिचित न थे, जितना एक रचनाकार को होना चाहिए। उन्होंने, भाषा को सँवारने की ओर भी अधिक ध्यान नहीं दिया। इन्हीं कारणों से उनकी भाषा में कहीं-कहीं अनुपयुक्त शब्दविधान एवं अनियमित तथा अपमानक भाषिक प्रयोग परिलक्षित होते हैं। उनके भाषा-व्यक्तित्व में एक अन्तर्विरोध भी मिलता है। जनवादी एवं सरल भाषानीति के समर्थक होते हुए भी वे कहीं-कहीं सायास, प्रयत्नज और क्लिष्ट संस्कृत तत्सम-शब्दरूपों का प्रयोग करते हैं। उर्दू से हिन्दी में आने के समय सम्भवतः उन्हें यह आवश्यक प्रतीत हुआ होगा कि बिना संस्कृत पर अधिकार-प्रदर्शन किये हिन्दी के साहित्यकारों की पंक्ति में मूर्द्धन्य स्थान बना पाना कठिन होगा। इसी कारण, आरम्भिक रचनाओं में पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक है।

△ विश्वविद्यालय-निवासगृह
पचपेढ़ी, जबलपुर (म० प्र०)

"आज की हिन्दी के यथार्थ जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काशी में ठीक समय पर जनमे, उस हिन्दी के बहुत बड़े पोषक बाबू शिवप्रसाद गुप्त ठीक समय पर काशी में जनमे और उस हिन्दी-भाषा को यथार्थ हिन्दी-साहित्य का स्वरूप देनेवाले महान् कलाकार प्रेमचन्द भी काशी में ही खिल खेले।"

"उनकी अनमैली मुस्कान में जीवन की कविता थी, उनके अट्टहास में अजेय जीवन का जयघोष। था वे अपनी दाल-रोटी की थाली के सम्बन्ध में कभी स्थिर न हो सके, पर अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में कभी पल-भर को अस्थिर न हुए।"

['ज्ञानोदय' से साभार]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द का सूक्ति-सौन्दर्य

△ प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव

विशिष्ट शब्दों या वाक्यों की योजना से ही भाषा में सौन्दर्य का चमत्कार उत्पन्न होता है। प्रतिभा ही सौन्दर्यमूलक चमत्कार की उत्पत्ति का केन्द्रीय स्थल है। जिस प्रकार वसन्त ऋतु में सद्योविकसित विशिष्ट पुष्पों की सुगन्ध का आस्वाद लेने के लिए भौंरे उपवन की ओर उन्मुख होते हैं, उसी प्रकार अपनी रचना में सौन्दर्यातिशय की प्रतिष्ठा के इच्छुक लेखक, वाणी के सौन्दर्यात्मिक चमत्कार के लोभ से, आकर्षक विषय मनोरम शब्द, आवर्जक वाक्य तथा रमणीय अर्थवाली भाषा का अनुसरण करते हैं। सौन्दर्यशास्त्रियों ने इसी भाषा को 'काव्यभाषा' के रूप में परिभाषित किया है। चामत्कारिक सौन्दर्य वस्तु में, शब्द में और अर्थ में रहता है, किन्तु कुल मिलाकर वस्तु में ही चमत्कार की अवस्थिति रहती है। इस प्रकार, भाषिक चमत्कार के सौन्दर्य की दृष्टि से महान् कथाकार प्रेमचन्द की कथाभाषा का अपना उल्लेखनीय महत्त्व है। उनकी कथाओं में पदे-पदे भाषिक सौन्दर्य का चमत्कार परिलक्षित होता है। इसी सौन्दर्यमूलक चमत्कार के कारण ही प्रेमचन्द की भाषा अतिशय आह्लाद उत्पन्न करती है।

प्रयोगवक्रता ही भाषिक सौन्दर्य के चमत्कार की सृष्टि का कारण है। कथाओं में सरल-प्रांजल भाषा का सर्वसामान्य प्रयोग ही प्रेमचन्द की असामान्य भाषिक विशेषता है। किन्तु, इस सरलता में भी जब वे प्रयोग की वक्रता से काम लेते हैं, तब अपूर्व या विशिष्ट भाषिक चमत्कार उत्पन्न हो आता है। भाषा में सौन्दर्य का चमत्कार लाने के लिए प्रेमचन्द ने कई चमत्कार-प्रणालियों के प्रयोग का आश्रय लिया है। प्रथम तो उनके कुछ ऐसे आपातरमणीय प्रयोग हैं, जिनपर विना विचार किये ही रमणीयता की प्रतीति होती है। द्वितीय प्रकार के प्रयोग ऐसे हैं, जो विचार करने के बाद रमणीय मालूम होते हैं। उन्होंने, कुछ ऐसी सूक्तियों का भी प्रयोग किया है, जिनमें कुछ तो पूरी सूक्तियाँ ही अपनी सौन्दर्य-शक्ति से चमत्कृत करती हैं और कुछ सूक्तियाँ अपने किसी एक अंश में सौन्दर्य-चमत्कार का संवहन करती हैं। इसके अलावा, प्रेमचन्द की भाषा में, कहीं शब्द में सौन्दर्य-चमत्कार की प्रतीति होती है, तो कहीं अर्थ में, और कहीं-कहीं तो शब्द और अर्थ, दोनों में सौन्दर्यमूलक चमत्कार की अनुभूति होती है। उनके कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं, जिनमें रस और अलंकार के द्वारा सौन्दर्यातिशयता के चमत्कार की योजना की गई है। और, कभी-कभी उन्होंने कुछ ऐसे पात्रों के चरित्रों का उद्भावन किया है, जिनमें सौन्दर्य के चमत्कार का समावेश परिलक्षित होता है। प्रस्तुत, निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय प्रेमचन्द की विभिन्न कथाओं में प्राप्य सूक्ति-सौन्दर्य का आस्वादन ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द की सूक्तियाँ मन्त्रात्मक हैं और इनमें उनके दीर्घतर अनुभवों की यथार्थ अभिव्यक्ति मुखर हुई है। उनकी सूक्तियाँ मूलतः त्रिकालसत्य सामाजिक स्थिति पर तीव्रतर प्रकाश-निक्षेप करती हैं, इसलिए इनमें यातयामता नहीं, अपितु सनातन सद्यस्कता बनी हुई है। प्रेमचन्द ने सूक्तियों के माध्यम से सामाजिक नर-नारियों—पति-पत्नियों की मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं और आचरणों का गम्भीर अन्तरंग अध्ययन उपन्यस्त किया है। साथ ही, लड़कियों, युवकों, बूढ़ों और बच्चों की समस्याओं एवं वेश्याओं और विधवाओं की स्थितियों का प्रतिरूपण भी बड़ी सटीकता से किया है। वे विधवा-विवाह के भी पूर्ण समर्थक थे। प्रेमचन्द धार्मिक दृष्टि से अतिशय उदार भावना के आख्याता हैं। वे राष्ट्रवादी प्रवृत्ति को मूल्य देने के साथ ही सर्वधर्मसमन्वय के पक्षपाती हैं। कहना न होगा कि सूक्तियों के द्वारा प्रेमचन्द ने विविध सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ युगजीवन की जटिल परिस्थितियों का भी वर्णन किया है और यह भी स्पष्ट किया है कि कोई भी धर्म अपने मूल रूप में संकीर्ण विचारों का पोषक नहीं होता। प्रेमचन्द की विचारधारा साम्यवाद पर आधृत होते हुए भी पारमेश्वरी आस्था से इनकार नहीं करती थी, किन्तु फिर भी वे अन्धविश्वासों से प्रभावित नहीं थे।

प्रेमचन्द की सूक्तियों से यह स्पष्ट है कि वे हिन्दू-मुस्लिम-एकता का हृदय से समर्थन करते थे। वे इस एकता को राष्ट्रीय अभ्युत्थान की दृष्टि से आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य मानते थे। इसीलिए, वे अपने जीवन में धर्म, जाति और सम्प्रदाय को महत्त्व नहीं देते थे, वरन् समाज को व्यापक मानव-प्रेम का सन्देश देना ही उनका साध्य था। इसके अतिरिक्त, सबसे अधिक ध्यातव्य बिन्दु यह है कि उन्होंने सत्ता की राजनीति के प्रति जितनी विरक्ति प्रदर्शित की, उससे अधिक वे मानव की जीवन-नीति के लिए आजीवन लड़ते रहे। वे मानते थे कि साहित्यकारों के लिए सत्ता की राजनीति में उलझना अश्रेयस्कर है। मानव की जीवन-नीति के लिए सतत संघर्ष ही साहित्यकारों का जीवन-व्रत होना चाहिए। प्रेमचन्द की सूक्तियों से स्पष्ट है कि वे एक ओर यदि नारियों के प्रति सामाजिक अत्याचारों के घोर विरोधी थे, तो दूसरी ओर समाज की मर्यादा के प्रतिकूल आचरण करनेवाली नारियों के घोर निन्दक और कठोर आलोचक भी थे। समाज की आर्थिक विषमता या गरीबी और अमीरी जैसी उच्चावच स्थितियों की तो वे बड़ी तीखी आलोचना करते थे। उन्होंने, अधिकारियों और उनके अधीनस्थों की स्थिति पर भी बड़ा गहरा व्यंग्य किया है। किसानों और मजदूरों की समस्याओं के चित्रण-क्रम में उन्होंने पूरी भारतीय कृषि-संस्कृति को ही ततोऽधिक वेधकता और सातिशय जीवन्तता के साथ रूपायित किया है। कृषि और व्यापार के उपयोगी घरेलू पशुधन—जैसे गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते आदि का तो उन्होंने मानव-जीवन से बड़ा ही मोहक और मार्मिक साधारणीकरण उपस्थापित किया है।

निष्कर्षतः, प्रेमचन्द की सूक्तियाँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि वे भौतिकता के मर्यादित रूप के व्याख्याता हैं, इसलिए उन्होंने अतिवादी दृष्टिकोण का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बराबर निराकरण किया है। यह कहना अनपेक्षित न होगा कि भौतिकता की परम्परा सम्पूर्ण प्राचीन हिन्दी-साहित्य को प्रेरित करती हुई और उसके द्वारा नवीकृत होती हुई आधुनिक काल की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति बन गई। इस दृष्टि से, प्रेमचन्द भौतिक-यथार्थवादी परम्परा के कूटस्थ कथालेखक थे।

इसके अतिरिक्त, प्रेमचन्द 'मानवतावादी' और 'मानववादी' सिद्धान्तों के समानान्तर सूत्रधर थे। 'मानवतावाद' और 'मानववाद' में स्थूल विभाजक रेखा तो नहीं खींची जा सकती है, परन्तु उनमें सूक्ष्म अन्तर तो अवश्य ही परिलक्षणीय है। 'मानवतावाद' किसी प्रकार के अतिवाद को प्राश्रय नहीं देता। मानवतावाद के अनुसार, मनुष्य अपने अतीत के ज्ञान या विवेक-शक्ति और संस्कार के आधार पर वर्त्तमान को मर्यादित करने के साथ ही दोनों कालों—अतीत और वर्त्तमान का सदुपयोग कर सकता हैं। मानवतावादियों का दृष्टिकोण है कि मनुष्य मनुष्य है और मनुष्य-जीवन की अपनी सार्थकता होती है।

सूक्तियों से स्पष्ट होता है कि मानवतावादी प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में उदारता के साथ ही प्राचीनता और शास्त्रीयता के प्रति न्यूनाधिक पक्षपात की प्रवृत्ति भी है। प्रेमचन्द के मन में सामाजिक विकृति या मानवता के ह्रास के प्रति बड़ी चोट पहुँचानेवाली कटुता है, किन्तु अभिव्यंजना-विधि में उनकी कटुता बहुत ही मृदुल हो गई है और उनकी मानवता सतह पर समुद्भावित हो उठी है। निश्चय ही, प्रेमचन्द की, खण्डन की पद्धति में श्लाघ्य सहिष्णुता है। मानवता की यह परम्परा प्रेमचन्द-साहित्य की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की विशिष्ट प्रत्यभिज्ञेय परम्परा रही है। आधुनिक युग में, महात्मा गान्धी ने इस परम्परा का बड़ी मौलिकता और व्यावहारिकता के साथ प्रतिनिधित्व किया। हिन्दी-साहित्य में सर्वाधिक श्रेष्ठ लेखक प्रेमचन्द ने उन्हीं (गान्धीजी) के द्वारा परिवर्त्तित और परिवर्द्धित मानवतावाद से अपनी कहानी-कला को ततोऽधिक उत्कर्ष प्रदान किया है।

मानववाद का सिद्धान्त मानवतावाद से किंचित् भिन्न है। जीवमात्र के कष्ट को मिटाना ही मानववादी परम्परा का प्रमुख सिद्धान्त है। इसीलिए, प्रेमचन्द की सूक्तियाँ इस बात को संकेतित करती हैं कि वे (प्रेमचन्द) मानव-मात्र के प्रति सहानुभूति तो रखते ही थे, पीडितों के प्रति समव्यथ भी थे। इसीलिए, वे सुखी को अधिक सुखी के रूप में देखने को व्यग्र होने की अपेक्षा दुःखी को सुखी बनाने की स्नेहातुर भावना से अभिभूत रहते थे। मानववादी प्रेमचन्द यह विश्वास करते थे कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा या बुरा जितना नहीं होता, उतना वातावरण उसके स्वभाव का निर्माण करता है, इसलिए वे पीडित मानवों की सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था को उन्नत करने और तदनुकूल वातावरण बनाने के आग्रही थे। उनकी मानववादी विचारधारा उनकी सूक्तियों में अनिवार्य रूप से अनुस्यूत है। निस्सन्देह, प्रेमचन्द की मानववादी भावना से समाज को प्रगति का प्राणवन्त विस्फूर्जन प्राप्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूक्तियाँ, प्रेमचन्द की कथाओं में प्राणवाहिनी शिराओं की तरह फैली हुई हैं। ये सूक्तियाँ कथा की भाषा और कथा के शरीर (वस्तु-तथ्य) दोनों से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार, सूक्ति-सौन्दर्य ही उनकी कथाओं की आत्मा है। प्रेमचन्द की गुणभूयिष्ठ तथा पाठकों की अन्तर्भावनाओं का स्पर्श करनेवाली सूक्तियों की सौन्दर्यातिशयता से उत्पन्न चमत्कारिता के विषय में यथाप्रतिपादित महत्ता या विशिष्टता के निदर्शन के निमित्त चिन्तन-चर्चित विविधवर्णी सूक्तियों या सौन्दर्यस्नात चमत्कारपूर्ण वाक्यों की नातिदीर्घ तालिका प्रस्तुत है।

(क) पूरी-की-पूरी सौन्दर्यातिशयता से चमत्कृत करनेवाली सूक्तियाँ[१] :

१. 'रूप और गर्व में चोली-दामन का नाता है।' (अलग्योझा)
२. 'सबल की शिकायतें सब सुनते हैं, निर्बल की फरियाद भी कोई नहीं सुनता।' (अलग्योझा)
३. 'खेती पसीने की वस्तु है।' (अलग्योझा)
४. 'रमणी का कोमल हृदय साहस और धैर्य को अपनी गोद में छिपाये रहता है।' (माँ)
५. 'प्रेम रमणी के साहस और धैर्य को प्रदीप्त कर देता है।' (माँ)
६. 'महत्त्वाकांक्षा आँखों पर परदा डाल देती है।' (माँ)
७. 'हरि-इच्छा बेकसों का अन्तिम अवलम्ब है।' (बेटोंवाली विधवा)
८. 'हाँ, सब हैं भाई, मगर भाग्य भी तो कोई वस्तु है।' (बेटोंवाली विधवा)
९. 'पानी में तेल कितना ही मिले, फिर भी अलग ही रहेगा।' (स्वामिनी)
१०. 'माँ तो बच्चे का सर्वस्व है।' (घरजमाई)
११. 'अमन का कानून जंग के कानून से बिलकुल जुदा है।' (दिल की रानी)
१२. 'अतीत चाहे दुःखद ही क्यों न हो, उसकी स्मृतियाँ मधुर होती हैं।' (धिक्कार)
१३. 'मन की प्रसन्नता व्यवहार में उदारता बन जाती है।' (ज्योति)
१४. 'सद्भावना में कितनी शक्ति है!' (दिल की रानी)
१५. 'युगों के संस्कारों को मिटा देना आसान नहीं है।' (धिक्कार)
१६. 'प्रेम और भक्ति नाम से ही नहीं, व्यक्ति से होती है।' (धिक्कार)
१७. 'लज्जा रखनेवाले तो भगवान् हैं।' (सुभागी)
१८. 'कुलटाओं का मुँह देखना पाप है।' (लांछन)
१९. 'सत्य के सामने सारी रसिकता अन्तर्धान हो जाती है।' (आखिरी हीला)
२०. 'ईश्वर की जो इच्छा होगी, वह होगा।' (तावान)
२१. 'नीची दूकान पर ही सड़े पकवान मिलते हैं।' (गिला)
२२. 'वेश्याएँ अवसर पड़ने पर सौभाग्यवती बन जाती हैं।' (मनोवृत्ति)
२३. 'गतयौवनाएँ तक तो रसभरी बातें सुनकर फूल उठती हैं।' (मनोवृत्ति)
२४. 'रूप की देवी वेश्या भी हो, तो उपास्य है।' (मनोवृत्ति)

---

१. सभी सूक्तियाँ 'मानसरोवर' (भाग १) की कहानियों से संकलित हैं।—ले०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२५. 'कितने ही बूढ़े जवानों से ज्यादा कड़ियल होते हैं।' (मनोवृत्ति)

(ख) अपने किसी एक अंश में सौन्दर्य-चमत्कार का संवहन करनेवाली सूक्तियाँ :

२६. "हमारी देवियों में एक चातुरी होती है, जो सदैव उड़ाऊ पुरुषों की असावधानियों पर 'ब्रेक' का काम करती है।" (शान्ति)

२७. 'ऐसे पुरुष तो कम हैं, जो स्त्री को जौ-भर भी विचलित होते देखकर शान्त रह सकें; पर ऐसी स्त्रियाँ बहुत हैं, जो पति को स्वच्छन्द समझती हैं।' (शान्ति)

२८. 'वह (स्त्री) अगर आत्मसमर्पण करती है, तो आत्मसमर्पण चाहती भी है।' (शान्ति)

२९. 'लड़कियाँ स्वभाव से ही सुशीला होती हैं और अपनी जिम्मेवारी समझती हैं। उनकी सेवा, त्याग और प्रेम ही उनका अस्त्र है, जिससे वे पुरुष पर विजय पाती हैं।' (शान्ति)

३०. 'लगाम से मुखबद्ध, बोझ से लदा हुआ, हाँकनेवाले की चाबुक से पीड़ित, दौड़ते-दौड़ते बेदम तुरंग हिनहिनाने की आवाज सुनकर कनौतियाँ खड़ी कर लेता है और परिस्थिति को भूलकर एक दबी हुई हिनहिनाहट से उसका जवाब देता है।' (स्वामिनी)

३१. 'बच्चों के लिए बाप एक फालतू-सी चीज--एक विलास की वस्तु है, जैसे घोड़े के लिए चने या बाबुओं के लिए मोहनभोग। माँ रोटी-दाल। मोहनभोग उम्र-भर न मिले, तो किसका नुकसान है, मगर एक दिन रोटी-दाल के दर्शन न हों, तो फिर देखिए, क्या हाल होता है।' (घरजमाई)

३२. 'बच्चों के साथ आदमी को बच्चा बन जाना पड़ता है, कभी उनके साथ खेलना पड़ता है, कभी हँसना पड़ता है।' (स्वामिनी)

३३. 'बच्चे तो स्वभाव से चंचल होते हैं। उन्हें किसी-न-किसी काम में फँसाये रखो। धेले का खिलौना हजार घुड़कियों से बढ़कर होता है।' (स्वामिनी)

३४. 'आजकल की लड़कियाँ अपने बच्चों की तो परवाह नहीं करतीं।' (ज्योति)

३५. 'शौक-सिंगार इसलिए बुरा लगता है कि ऐसे आदमी अपने भोग-विलास में मस्त रहते हैं। किसी के घर में आग लग जाय, उससे मतलब नहीं। उनका काम तो खाली दूसरों को रिझाना है। जैसे अपने रूप की दूकान सजाये, राह चलतों को बुलाते हों कि जरा इस दूकान की भी सैर करते जाइए। ऐसे उपकारी प्राणियों का सिंगार बुरा नहीं लगता, बल्कि और अच्छा लगता है।' (ज्योति)

३६. 'मानव-रक्त का प्रवाह संगीत का प्रवाह नहीं, रस का प्रवाह नहीं--एक बीभत्स दृश्य है, जिसे देखकर आँखें मुँह फेर लेती हैं, हृदय सिर झुका लेता है।' (दिल की रानी)

३७. 'जहाँ खुदा ने नेमतों की वर्षा की है, वहाँ नेमतों का भोग न करना नाशुक्री है।' (दिल की रानी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३८. 'सचाई और हक के लिए कुर्बान हो जाना जिन्दगी की शानदार फतह नहीं है ?' (दिल की रानी)

३९. 'जो रहम और साफदिली और बेगरजी का देवता है, वह क्या जाने, इन्सान कितना शैतान हो सकता है। अमन के दिनों में तो ये बातें कौम और मुल्क को तरक्की के रास्ते पर ले जाती हैं; पर जंग में, जबकि शैतानी जोश का तूफान उठता है, इन खूबियों की गुंजायश नहीं। उस वक्त तो उसी की जीत होती है, जो इन्सानी खून का रंग खेले, खेतों-खलियानों की होली जलाये और बस्तियों को वीरान करे !' (दिल की रानी)

४०. 'जिस घर में एक अनाथ स्त्री पर इतना अत्याचार हो, उस घर का पानी पीना भी हराम है।' (धिक्कार)

४१. 'किसी रमणी का विधवा होना मेरी आँखों में दोष नहीं, गुण है।' (धिक्कार)

४२. 'हम छोटे-छोटे कामों के लिए तजुर्बेकार आदमी खोजते हैं, मगर जिसके साथ हमें जीवन-यात्रा करनी है, उसमें तजुर्बे का होना ऐब समझते हैं।' (धिक्कार)

४३. 'विवाह का आधार अगर प्रेम न हो, तो वह तो देह का विक्रय है।' (कायर)

४४. 'मन्द वायु प्रबल वेग से पर्वत के मस्तक पर चढ़ जाती है।' (कायर)

४५. 'जलते हुए हृदय से ज्वाला के सिवा और क्या निकलती !' (शिकार)

४६. 'हमारे यहाँ मित्रता मर्दों तक ही रहती है, औरतों तक नहीं जाने पाती।' (अनुभव)

४७. 'जो प्राणी घरवालों के लिए मरता है, उनकी प्रशंसा संसारवाले नहीं करते।' (गिला)

४८. 'जब एक-एक अमीर और रईस के पास एक-एक मालगाड़ी कपड़ों से भरी हुई है, तब फिर निर्धनों को क्यों न नग्नता का कष्ट उठाना पड़े ?' (गिला)

४९. 'जो मातहत अफसर को प्रसन्न रखने की चेष्टा करता है, जिसकी जात से अफसर का कोई व्यक्तिगत उपकार होता है, जिसपर वह विश्वास कर सकता है, उसका लिहाज वह स्वभावतः करता है।' (गिला)

५०. 'जब अधीनस्थ कर्मचारी ही उससे फिरण्ट हो, तो क्या उसके अफसर उसे सलाम करने आयेंगे ?' (गिला)

५१. 'फल काँटेदार वृक्ष से भी मिलें, फिर भी क्या उन्हें छोड़ दिया जाता है ?' (स्वामिनी)

५२. 'धनी मनुष्य धन में लोटनेवाले ईश्वर की ही कल्पना करता है।' (झाँकी)

५३. 'पुरुष स्वाधीन है, वह दिल में समझता है कि मैं स्वाधीन हूँ। वह स्वाधीनता का स्वाँग नहीं करता। स्त्री अपने दिल में समझती रहती है कि वह स्वाधीन नहीं है, इसलिए वह स्वाधीनता का ढोंग करती है।' (मनोवृत्ति)

५४. 'जो बलवान् हैं, वे अकड़ते नहीं। जो दुर्बल हैं, वही अकड़ दिखलाते हैं।' (मनोवृत्ति)

△ सम्पादक, 'परिषद्-पत्रिका', बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८०००४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुस्मृति :

प्रेमचन्द और 'काशी-साहित्य-मण्डल'

△ डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी

सन् १९३४ से १९३७ ई० तक काशी के साहित्यिक वातावरण में रहने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ था। वहाँ से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'आर्यमहिला' तथा द्विदैनिक 'सूर्य' का सम्पादन करने के साथ-साथ वहाँ की साहित्यिक गतिविधि को समझने और परखने का मौका भी मिला था। वहाँ के प्रसिद्ध साहित्यकार और नाट्याचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी से मेरा पूर्व-परिचय था। वे 'सनातनधर्म' साप्ताहिक के सम्पादक थे। हर विषय पर वे कलम चलाते थे। वाद्य और संगीत के भी अच्छे जानकार थे। उनके सहायक सम्पादक थे—पं० गयाप्रसाद ज्योतिषी। उन दोनों मनीषी मित्रों से मुझे साहित्यिक प्रेरणा मिलती थी।

कुछ दिनों बाद, मेरा परिचय वहाँ के दो प्रख्यात कवियों से हुआ। उनमें एक थे, श्रीकान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' और दूसरे थे, श्रीईशदत्त पाण्डेय 'श्रीश'। चोंचजी हास्यरस के प्रसिद्ध कवि थे और श्रीशजी गम्भीर विषयों पर लेखनी चलाते थे। दोनों आशुकवि और काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे। वे सिर्फ कवि और लेखक ही नहीं थे, बल्कि सही अर्थ में भद्र आदमी थे। दोनों ही मेरे विश्वासी मित्र बन गये थे। उनके साथ मैं काशी की साहित्य-गोष्ठियों में सम्मिलित होने लगा था।

एक दिन 'सूर्य' प्रेस में कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' ने मुझसे कहा कि काशी में साहित्यकार बिखरे हुए हैं। कोई ऐसा मंच नहीं है, जिसपर विभिन्न खेमों के साहित्यकार एकत्र हो सकें और आपस में विचारों का आदान-प्रदान कर सकें। निर्णय हुआ कि निकट भविष्य में काशी के विभिन्न तबके के कवियों और लेखकों की बैठक 'सूर्य' प्रेस में बुलाई जाय और एक ऐसी साहित्यिक संस्था को जन्म दिया जाय, जिसमें सभी प्रकार के साहित्यकार सम्मिलित हो सकें और खुले दिल से अपने विचारों को प्रकट कर सकें।

कुछ दिनों बाद, काशी के साहित्यकारों की एक बड़ी बैठक सूर्य' प्रेस में बुलाई गई। सन् १९३६ ई० का प्रारम्भ था। उक्त बैठक में सभी छोटे-बड़े साहित्यकार उपस्थित थे। निर्णय किया गया कि साहित्यकारों को एकजुट करने के लिए 'काशी-साहित्य-मण्डल' की स्थापना की जाय। सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित हुआ और 'काशी-साहित्य-मण्डल' की स्थापना की गई। उक्त मण्डल के अध्यक्ष बनाये गये प्रसिद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल और संयुक्त सचिवों में चोंचजी के साथ मेरा नाम भी आया। काशी के सभी छोटे-बड़े साहित्यकार उसके सदस्य बनाये गये।

'काशी-साहित्य-मण्डल' की प्रथम बैठक में यह प्रस्ताव पारित हुआ कि शीघ्र ही साहित्यकारों का एक बड़ा जमाव किया जाय, जिसमें मुख्य अतिथि के रूप में प्रेमचन्दजी बुलाये जायें। निश्चित तिथि और समय पर साहित्यिक समारोह का आयोजन किया गया। उक्त समारोह में काशी के अनेक प्रसिद्ध साहित्यकार एवं राजनीतिज्ञ उपस्थित थे। जयशंकर प्रसाद तथा उनके अनुयायियों की उपस्थिति अच्छी थी। मुख्य अतिथि के रूप में प्रेमचन्दजी कुछ साहित्यकारों के साथ पधारे। उनके सम्मान में सभी लोग खड़े हो गये। अध्यक्ष के नजदीक वे बैठे। कुछ देर के बाद सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हो गई। संयुक्त सचिव श्रीकान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' ने मण्डल के उद्देश्यों और कार्यों पर संक्षेप में प्रकाश डाला। पश्चात्, अध्यक्ष ने प्रेमचन्दजी से निवेदन किया कि वे मुख्य अतिथि के रूप में अपने विचार प्रकट करें।

प्रेमचन्दजी उठे। उन्होंने अपनी मूँछों के बिखरे बालों को कई बार समेटा। फिर बोले : "आज समाज की अजीब दशा हो गई है। नाबराबरी और बेइन्साफी ने समाज को दबोच रखा है। यह दुर्दशा कबतक कायम रहेगी, सोचो तो! बड़ी-बड़ी इमारतों में रहनेवाले तमाम धनी लोगों ने श्रम का शोषण किया है और आज भी उनका शोषण-कार्य अबाध गति से जारी है। कुछ दिनों तक सिनेमा-कम्पनियों के आकर्षक वातावरण में रहने का मुझे मौका मिला था। वहाँ थोड़े ही दिनों में मेरी लेखनी कुन्द हो गई और उसके बाद क्या हुआ, किस मुसीबत का सामना करना पड़ा, वह बयान के बाहर है। यह कहना बिलकुल ठीक है कि सिनेमा-कम्पनियाँ लेखकों का शोषण करती हैं और उनकी लेखनी को पराधीन बना देती हैं।" वे रुककर फिर बोले : "जबतक समाज के चन्द लोगों के हाथों में पूँजी जमा रहेगी, तबतक समाज के बहुसंख्य लोग गरीब रहेंगे ही। यह कैसा दृश्य है कि एक तरफ दाने-दाने के मुँहताज लोग फुटपाथों पर अपनी जिन्दगी बसर करते हैं, तो दूसरी ओर बड़ी-बड़ी इमारतों में रहनेवाले पूँजीपति नाजायज ढंग से रंगरेलियाँ मनाते हैं। क्या ऐसा लोमहर्षक दृश्य जारी रहेगा? मैं कहता हूँ, कभी नहीं। याद रखो, गरीबों का बहुत बड़ा हजूम बेकस होकर छटपटा रहा है। क्या वे बेकस गरीब बराबर छटपटाते ही रहेंगे। नहीं, कभी नहीं। समय अवश्य पलटा खायगा। अब अमीरों का षड्यन्त्र बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकेगा। गरीबी अमीरों की देन है, न कि ईश्वर की। पूँजी ही मनुष्य को अन्धा बनाती है और कमजोरों पर जुल्म करने के लिए उसकाती है।" वे रुक गये। शायद, मन में कुछ सोचने लगे। फिर, समाज के विभिन्न कमजोर अंगों पर प्रकाश डालने लगे, और बोलते-बोलते अकस्मात् बैठ गये। अध्यक्ष के भाषण के बाद सभा समाप्त हो गई। कुछ लोग प्रेमचन्द को विदा करने के लिए मोटर तक गये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं भी साथ में था। न मालूम क्यों, कुछ देर तक मेरी आँखें उनकी मुखाकृति की ओर एकटक देखती रहीं। वे विदा लेकर और देकर चले गये।

प्रेमचन्द के व्यक्तिगत जीवन तथा कृतियों के सम्बन्ध में 'काशी-साहित्य-मण्डल' की गोष्ठियों में अनेक विद्वानों ने अपने अनुभवजन्य विचार प्रकट किये। मुझे भी उनके सम्बन्ध में काफी जानकारी मिली। मैं उनके सम्बन्ध में यही जानता था कि उनका जन्म काशी के निकटवर्त्ती गाँव लमही में संवत् १९३७ वि० में हुआ था। वे एक निर्धन परिवार के व्यक्ति थे। उनके पिता डाकखाने में बीस रुपये मासिक वेतन पर नौकरी करते थे। उनकी आर्थिक अवस्था अत्यन्त चिन्तनीय थी, फिर भी उनके पिता ने उन्हें नवें दरजे तक पढ़ाया। उस समय उनकी उम्र पन्द्रह वर्ष की थी। पिता ने सोचा, लड़का सयाना हो गया, इसलिए इसका विवाह कर देना चाहिए। पिता ने उनका विवाह कर अपनी जिम्मेवारी पूरी कर ली।

प्रेमचन्द के विवाह के एक वर्ष बाद ही उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। अब उनके सिर पर परिवार का सारा बोझ आ गया। कोई आमदनी नहीं थी। पिता ने नौकरी के समय जो कुछ बचाया था, वह उनकी ही बीमारी और श्राद्धक्रिया में खर्च हो गया था। भीषण आर्थिक संकट था। फिर भी, प्रेमचन्द दृढ थे और कठिनाइयों से लड़ना जानते थे। उन्होंने पढ़ाई जारी रखी, और ट्यूशन की संख्या बढ़ा दी। अजीव दिनचर्या थी उनकी। सवेरे घर से क्वींस कॉलेज जाना, पढ़ाई समाप्त कर ट्यूशन करना और फिर घर वापस जाना। पीछे चलकर उन्होंने घर जाना बन्द कर दिया। इस प्रकार, आर्थिक कठिनाइयों को झेलते हुए उन्होंने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा दी और द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। मैट्रिकुलेशन पास करने के बाद उन्होंने हिन्दू-कॉलेज में नाम लिखाना चाहा, पर गणित में कमजोर होने के कारण प्रिंसिपल ने नाम नहीं लिखा। वे विज्ञान पढ़ना चाहते थे। मजबूर होकर कला में नाम लिखवाया। कठिन परिश्रम करने के बाद वे बी० ए० पास कर गये। उसके बाद वे एक स्कूल में अध्यापक के पद पर काम करने लगे।

प्रेमचन्द के भीतर विद्रोही भावनाएँ जोर मार रही थीं। फिर भी, वे मानते थे कि दिल को मजबूत तथा हरा-भरा करने के लिए हास्य आवश्यक है। किसी से विनोद करना, हँसना, ठहाका लगाना इत्यादि उनके स्वाभाविक गुण थे। प्रसिद्ध विद्वान् **स्व० रामदास गौड़** का कहना था कि जब प्रेमचन्द ट्रेनिंग कॉलेज, प्रयाग में प्रशिक्षण पा रहे थे, तब उनके बराबर कोई हँस नहीं सकता था। बहुतों ने नकल की, पर कोई उनकी बराबरी न कर सका। वे बतला-बतलाकर साठ प्रकार की हँसी हँसते थे और सभी साथियों को भरपेट हँसाते थे। हँसी की दावतें होती थीं। हँसी उनकी विशेषता थी।

प्रेमचन्द प्रारम्भ में नवाबराय के नाम से उर्दू में कहानियाँ लिखते थे। काशी की कारमाइकल लाइब्रेरी के वे नियमित पाठक थे। कहानियाँ और उपन्यास पढ़ते-पढ़ते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हें कहानियाँ लिखने की प्रेरणा मिली। उर्दू के बाद हिन्दी में कहानियाँ लिखने की प्रेरणा उन्हें अन्तर्मन से मिली थी। वे हिन्दी में कहानियाँ लिखने लगे और उपन्यास भी। हिन्दी के वे जाने-माने कथाकार समझे जाने लगे। मैंने भी उनके उपन्यासों को पढ़ा। उपन्यासों में उन्होंने निःसन्देह समाज, धर्म और राजनीति का एक मौलिक मापदण्ड स्थापित किया है। त्याग और बलिदान की नींव पर उन्होंने समाज की मजबूत दीवार खड़ी करने की प्रबल चेष्टा की है। उनके उपन्यास उलझन से अलग रहकर स्पष्ट मार्ग का परिदर्शन कराते हैं। उनकी 'रंगभूमि' का सूरदास अव्यवस्थित और अत्याचारी समाज की छाती पर चढ़कर क्रान्ति का राग अलापता है। उसके सामने भय और बाधा कोई चीज नहीं है। अकेला प्राणी धनी मालिकों के संगठित अत्याचारों को छाती खोलकर बरदाश्त करता है। उन्होंने 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह के विरुद्ध कसकर आवाज उठाई है। 'गबन' में उन्होंने गृहकलह तथा मध्यवर्गीय व्यक्तियों के पाखण्ड और पाशविकता का दर्दनाक चित्र खींचा है। 'गोदान' में उनका व्यक्तित्व मुझे ऊँचे शिखर पर अवस्थित दिखाई देता है। मुझे ग्रामीण जीवन का ऐसा सुन्दर चितेरा कम देखने को मिला है। इस तरह, उनके उपन्यासों में विभिन्न विषयों का समीचीन और यथार्थ चित्रण मिलता है।

मुझे प्रेमचन्द को नजदीक से देखने और पहचानने का मौका मिला। उनके जीवन को पढ़ने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि उनका जन्म गुरबत में हुआ और जीवन-पर्यन्त वे गुरबत का मुकाबला करते रहे। निरन्तर संघर्षरत रहने के कारण ही शायद उनकी आँखों में हमेशा चढ़ाव दिखाई देता था, उतार कभी दिखाई नहीं पड़ा। कारण यह था कि वे सिर्फ अपनी गरीबी से ही नहीं लड़ते रहे, बल्कि समाज की गरीबी को भी दूर करने के लिए परेशान रहते थे। वे जानते थे कि जबतक देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहेगा, तबतक समाज से गरीबी को मिटाना असम्भव रहेगा। इसलिए, गान्धीजी की पुकार पर वे अपनी नौकरी छोड़कर असहयोग-आन्दोलन में शरीक हो गये, और भारतमाता को मुक्त करने के निमित्त उन्होंने आन्दोलनों का साथ दिया। वे कलम के धनी थे; इसलिए उन्होंने 'हंस' और 'जागरण' का प्रकाशन कर अपने क्रान्तिकारी विचारों को समाज के सामने रखा।

प्रेमचन्द सिर्फ आदर्श की बातें नहीं करते थे और न लम्बी-लम्बी हाँकते थे। वे जो सोचते थे, उसे व्यवहार में उतारना चाहते थे। उनके भीतर आग सुलगती रहती थी, जो अन्तिम क्षण तक बुझ न सकी थी। वे बीमार हो गये थे। फिर भी, 'जागरण' और 'हंस' पर उनकी निगाह थी। वे उन दोनों पत्रिकाओं में कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे। पर, धीरे-धीरे उनकी बीमारी असाध्य हो गई और जीवन पर खतरा उत्पन्न हो गया। अनेक साहित्यिक संस्थाओं ने उनके आरोग्य तथा दीर्घजीवन की कामना की। 'काशी-साहित्य-मण्डल' ने भी अपनी एक आवश्यक बैठक करके उनके दीर्घ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन की कामना की। पारित प्रस्ताव लेकर 'काशी-साहित्य-मण्डल' के कुछ सदस्यों के साथ मुझे भी उनके घर जाने का अवसर मिला। उनका शरीर बिलकुल कृश हो गया था। आँखें धँसकर कोटर में प्रवेश कर गई थीं। मूँछें बिखरकर मुँह और नाक के प्रवेशद्वारों को बन्द करने के प्रयास में लीन थीं। पर, वाणी अपने आन्तरिक भावों को व्यक्त करने में सक्षम थी। उन्होंने, समाज के विभिन्न कमजोर अंगों के निदान के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्नों को विचारार्थ उपस्थित किया था। डॉक्टरों ने अधिक बोलने के लिए मना किया था। पर, वे डॉक्टरी बन्धन की शायद परवाह नहीं करते थे। हमलोगों ने उन्हें बीहड़ प्रश्नों में उलझाना उचित नहीं समझा। शीघ्र ही हाथ जोड़कर विदा ले ली।

प्रेमचन्द की बीमारी प्रतिदिन गम्भीर होती गई और ऐसी स्थिति आ गई कि कहना मुश्किल हो गया कि कब वे अपने शुभचिन्तकों को बिलखते छोड़कर अदृश्य हो जायेंगे। सन् १९३६ ई० के ८ अक्टूबर का अपराह्न यमराज का प्रतिनिधि बनकर आ गया और उस क्रान्तिकारी व्यक्ति की रूह को ले भागा। काशी की गली-गली में यह दुःखद संवाद छा गया। मेरे सहयोगी 'काशी-साहित्य-मण्डल' के कर्मठ सचिव श्रीकान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' भींगी आँखें लिये हुए 'सूर्य' प्रेस में आये और रुँधे कण्ठ से कहने लगे, 'चलिए भाई, साहित्य-मण्डल की ओर से हमलोगों को प्रेमचन्द के अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होना चाहिए। प्रेमचन्द अचानक बोलते-बोलते चुप हो गये और सदा के लिए सो गये !' मैं चोंचजी के साथ श्मशान घाट की ओर चल पड़ा। घाट पर पहुँचने के बाद मैंने देखा, चिता पर लकड़ी के मोटे-मोटे कुन्दों के बीच वह बड़ी हस्ती चिरनिद्रा में निमग्न है। उसके रुखड़े ललाट की नसें तनी हुई हैं और चमड़ा सिकुड़ कर पेचदार बन गया है। शायद आन्तरिक आक्रोश का वह वास्तविक चित्र था। अगल-बगल खड़े, मौन काँपते हुए कुछ साहित्यकार उस दृश्य को देख रहे थे। प्रसिद्ध लेखक और कवि जयशंकर प्रसाद की आँखें गरम आँसुओं की बूँदों को झरने से रोकने की कोशिश कर रही थीं। प्रेमचन्द के बड़े पुत्र अमृतराय ने धार्मिक रीति के अनुसार मुखाग्नि दी। देखते-देखते चिता चटकने लगी और लपटों के घटाटोप में ओझल हो गई। फिर क्या हुआ, कहना मुश्किल है। लपटें राख का ढेर छोड़कर समाप्त हो गईं। रीति-रश्म के अनुसार, अन्तिम संस्कार समाप्त किया गया। मौन खड़े व्यक्ति धीरे-धीरे तितर-बितर हो गये।

दूसरे दिन प्रेमचन्द के निधन की भिन्न-भिन्न सुर्खियाँ पत्रों में रँगी मिलीं। बड़े-बड़े लोगों के विचारों की लड़ियाँ अखबारों में बिछ गईं। 'काशी-साहित्य-मण्डल' की बैठक बुलाई गई और शोक-प्रस्ताव पारित किया गया। सदस्यों ने मौन खड़े होकर दिवंगत की सद्गति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की।

प्रेमचन्द सदा के लिए चले गये हैं; पर अपने जीवन का लम्बा दास्तान छोड़ गये हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है। वे कहानी गढ़ते थे, पर आज वे स्वयं कहानी बन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गये हैं। उनकी कहानियों को पढ़कर हम उधेड़बुन में पड़ सकते हैं; तर्क-वितर्क की कसौटी पर उनकी कहानियों को कसने के लिए तैयार हो सकते हैं; पर उनके जीवन की कहानी को पढ़ते-पढ़ते हम अघाते ही नहीं, तर्क करने का मौका ही नहीं आता।

गरीबी की सिलपट के एक बिन्दु को जन्म लेते ही पकड़ना, उसके साथ परिधि बनाकर खेलना, फिर धीरे-धीरे रेंगते हुए, वार-बार ऊपर चढ़ना और फिसलना तथा चोटी पर चढ़कर अँगड़ाई लेना, मुस्कराना, ठहाका लगाना, उछल-उछलकर रंग-विरंग का पैंतरा बाँधना और अन्त में सदा के लिए अनन्त में विलीन हो जाना, यही उनके व्यक्तित्व की कहानी है। वह एक ऐसी चमकती कहानी है, जो कभी धूमिल नहीं हो सकती। उसे पढ़ने से मानव-मस्तिष्क को, समाज के कमजोर अंगों को मजबूत बनाने की प्रेरणा मिलती रहेगी और मिलती रहेगी समाज और प्रशासन में अनाचार, भ्रष्टाचार, घूसखोरी और रक्त में मनमाने ढंग से क्रीडा करनेवाले लोगों को दुरुस्त करने की अपार शक्ति !

△ नेहरूनगर, आरा

जी चाहता है कि कहा जाय—प्रेमचन्द भारतीय देहात के युग-वाल्मीकि थे। यह वह पद है, जिसपर न शरत् प्रतिष्ठित हो सके, न रवीन्द्रनाथ—प्रेमचन्द और केवल प्रेमचन्द।

o

रंगभूमि का सूरदास उनका ताजमहल है, तो गोदान का होरी उनका लाल किला; सूरदास और होरी, जो ताजमहल और लाल किला के खण्डहर हो जाने पर भी ताजे फूल-से खिले रहेंगे, अपने महान् निर्माता प्रेमचन्द की स्मृति में।

o

सुमन को उन्होंने सेवा-सदन में बैठा दिया, वे समाज के साथी थे। उन्होंने विधवा-विवाह किया, वे समाज के नेता थे।

o

जमीन्दारी-उन्मूलन की पहली घोषणा उन्होंने हमारे राष्ट्र में की। वे नये समाज के युगद्रष्टा थे।

o

लांछनों के बीच भी वे अपनी अकम्प साधना में लगे रहे। वे गृहस्थ सन्त थे।

['ज्ञानोदय', नव० १९५१ ई०]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द की कहानियों का सामाजिक आधार

△ श्रीरामनिहाल गुंजन

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के सम्वन्ध में पहले जिन समीक्षकों की यह शिकायत रही है कि उसमें मानवीय सहानुभूति और करुणा जगाने के लिए पात्रों के सिर झुकाये गये हैं, अथवा उन्हें सहानुभूति और करुणा के पात्र के रूप में चित्रित किया गया है, अब उन समीक्षकों की धारणा भी आकस्मिक रूप से वदलने लगी है। शायद, इधर उन्होंने प्रेमचन्द के वारे में नये सिरे से सोचना शुरू किया है। इससे यह जरूर सिद्ध होता है कि विभिन्न समयों में प्रेमचन्द के आलोचकों की धारणा वदलती रही है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की भी धारणा प्रेमचन्द के उपन्यासों को वारे में 'गोदान' के प्रकाशन के साथ ही परिवर्तित हुई थी, हालांकि 'गोदान' के पहले उनके उपन्यासों की चर्चा काफी हो चुकी थी। इसी तरह मार्क्सवादी आलोचक, डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि में प्रेमचन्द की कहानियों का महत्त्व नगण्य रहा है। उन्होंने प्रेमचन्द के उपन्यासों को उनकी कहानियों से ज्यादा अहमियत दी है, जवकि इसके विपरीत उनकी कहानियों को ज्यादा महत्त्व देनेवाले लेखकों-समीक्षकों की संख्या ही अधिक है। अपने निबन्धों में डॉ० शर्मा ने प्रेमचन्द की कहानियों का जिक्र वहुत कम किया है। रॉल्फ फॉक्स की पुस्तक 'उपन्यास और लोक-जीवन' की सन् १९५७ ई० में लिखी भूमिका में एक जगह उन्होंने प्रेमचन्द की कहानियों की चर्चा भी की है, तो गौण रूप में ही। इसके बाद भी जहाँ कहीं उन्होंने प्रेमचन्द की कहानियों का जिक्र किया, वह उपन्यासों की तुलना में अत्यल्प सिद्ध होता है।

इस तरह के उदाहरण हिन्दी के अन्य कई लेखकों और आलोचकों की रचनाओं में भी ढूंढ़े जा सकते हैं, जो प्रेमचन्द के साहित्य के वारे में एकांगी विचार रखते हैं। इससे एक खास प्रवृत्ति की सूचना मिलती है, जो और तो और, हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षकों में भी पाई जाती है। प्राय: देखने में आता है कि कुछ समीक्षक किसी रचनाकार की रचनाओं के समग्र अध्ययन-विश्लेषण की अपेक्षा एकांगी रूप से उनका अध्ययन-विश्लेषण करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि स्वीकृत लेखक की रचनाओं के प्रति वे पूरी तरह न्याय नहीं कर पाते। दूसरी ओर वैसे समीक्षक भी हैं, जो किसी रचनाकार की अतिशय रूप से श्लाघा करते हैं। इसलिए, प्रेमचन्द-साहित्य के मूल्यांकन के क्रम में यह देखना आवश्यक होगा कि उस समय की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ क्या थीं और उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बीच प्रेमचन्द की रचना-दृष्टि का विकास किस रूप में हुआ। प्रेमचन्द निश्चित रूप से एक महान् लेखक थे, इसलिए उनके साहित्य में उन चरित्रों और घटनाओं की मूलभूत सत्यता की पड़ताल करना जरूरी है; क्योंकि किसी रचनाकार के साहित्य-संसार में वैसे पात्र, घटनाएँ और स्थितियाँ निश्चित तौर पर मौजूद होते हैं, जो महत्त्वपूर्ण कला-सर्जन की सम्भावनाओं से सम्पृक्त होते हैं।

दरअसल, कोई सार्थक रचना तभी सम्भव है, जब उसके रचनाकार के सामने रचना के अभिप्राय और दिशा स्पष्ट हों। प्रेमचन्द के सामने रचना का उद्देश्य बिलकुल साफ था। आरम्भ में, जब प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों का सर्जन किया, तब उनका उद्देश्य उतना व्यापक नहीं था; क्योंकि उनमें एक प्रकार की आदर्शवादी दृष्टि और सम्मान काम कर रही थी, जिसका स्पष्ट अहसास उनकी अधिकांश आरम्भिक कृतियों में होता है। लेकिन, बाद की रचनाओं से, जो सन् १९३० ई० के आसपास लिखी गईं, उनके व्यापक उद्देश्य और दृष्टिकोण का पता चलता है। इसका कारण निश्चय ही वे सामाजिक और राजनीतिक स्थितियाँ रही हैं, जो उस समय के समाज में अपने पूरे अन्तर्विरोधों के साथ मौजूद थीं। इनके अलावा, समाज में छुआछूत, विधवा-विवाह और नारी-मर्यादा तथा नैतिकता के प्रश्न उपस्थित थे, जिनका चित्रण अपने उपन्यासों और कहानियों में प्रस्तुत कर प्रेमचन्द ने अपनी पक्षधरता समाज की तथाकथित हरिजन-जाति और नारी-जाति के प्रति व्यक्त की थी। जैसा ऊपर कहा गया है, इसके पीछे प्रेमचन्द में गान्धीवादी विचार-दर्शन के तहत आदर्शवादी दृष्टिकोण काम कर रहा था। बाद में अपने सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्त्तन के कारण उन्होंने अछूत जाति तथा नारी-जाति के पात्रों को परम्परा से कुछ भिन्न रूप में चित्रित किया। इस प्रसंग में 'घासवाली' कहानी की मुलिया और 'कफन' कहानी के माधव और घीसू जैसे चरित्रों को देखा जा सकता है, जो निजी स्तर पर क्रमशः नारी-मर्यादा और श्रम-मर्यादा की रूढियों को तोड़ते हैं। हालाँकि, 'घासवाली' कहानी में प्रेमचन्द ने गान्धीवादी आदर्श के तहत हृदय-परिवर्त्तन भी दिखलाया है, जहाँ चैनसिंह आकस्मिक रूप से मुलिया के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल लेता है।

इस तरह, प्रेमचन्द की पूर्ववर्त्ती कहानियों में हृदय-परिवर्त्तन आदि भावनात्मक मूल्यों और आदर्शों से सम्बद्ध प्रसंग आसानी से देखे जा सकते हैं और उनके आधार पर एक आदर्शमूलक धारणा भी बनाई जा सकती है। वैसे आज भी प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में व्यक्त यथार्थ को समझने के लिए 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के रूप में एक प्रकार की रूढ धारणा विद्यालय-स्तर से विश्वविद्यालय-स्तर तक के अधिकांश अध्यापकों और प्राध्यापकों के बीच प्रचलित है। फलतः, आरम्भ से ही प्रेमचन्द-साहित्य के बारे में एक परम्परित धारणा का निर्माण किया जाता रहा है, जो सामान्य पाठकों में आज भी किसी-न-किसी रूप में मौजूद है। और तो और, हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में इस तरह की प्राध्यापकीय सोच और दृष्टि के उदाहरण कई अध्यापक-आलोचकों की समीक्षाओं में भी देखने को मिलते हैं। असल में, आदर्शोन्मुख यथार्थ की धारणा ही गलत है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि इसके पीछे न तो कोई ठोस वैचारिक आधार है और न कोई तार्किक संगति ही। स्वयं प्रेमचन्द भी बाद में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ पर जोर देने लगे थे। इसलिए, प्रेमचन्द के साहित्य को दो श्रेणियों में विभक्त कर देखने की आवश्यकता है—एक आदर्शवादी और दूसरा यथार्थवादी। चूंकि, यहाँ प्रेमचन्द की कहानियों के सन्दर्भ में विचार किया जा रहा है, इसलिए उनकी रचना-दृष्टि के विश्लेषण को सिर्फ उनकी कहानियों तक सीमित रखना उचित होगा।

प्रेमचन्द की जिन कहानियों से उनके लेखन का यथार्थवादी स्वरूप सामने आता है, वे, जैसा ऊपर बताया गया है, प्रायः सन् १९३० ई० के आसपास और उसके बाद लिखी गई हैं। उस समय तक प्रेमचन्द पर रूसी क्रान्ति और समाजवादी विचारधारा का प्रभाव भी पड़ चुका था। उन्होंने इसके सम्बन्ध में छोटी-छोटी टिप्पणियाँ लिखकर अपनी स्वीकारोक्ति भी दी है। इस प्रकार के बदलाव ने उनकी रचाना-दृष्टि को बहुत हद तक प्रभावित किया। फलतः, उनकी 'सोहाग का शव' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी कहानियों के आदर्शों का सहसा लोप हो गया और उसकी जगह 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआँ', 'सवा सेर गेहूँ' और अन्त में 'कफन' जैसी कहानियों के ठोस सामाजिक यथार्थ सामने आये। इस प्रकार, 'बड़े घर की बेटी' से 'कफन' तक की दूरी प्रेमचन्द के लम्बे रचना-संघर्ष के साथ-साथ नये सामाजिक अनुभवों और व्यवहार पर आधृत उनकी नई रचना-दृष्टि का भी परिणाम थी।

प्रेमचन्द की उपर्युक्त कहानियों से इस तथ्य का जरूर पता चलता है कि वे अपनी रचनाओं के जरिये तत्कालीन जनजीवन के बुनियादी सवालों के रू-ब-रू थे। वे अपने आसपास के परिवेश और जीवन-स्थितियों का चित्रण कर रहे थे, जो गाँवों से शहरों तक फैले हुए थे, संजीदगी से फैल रहे थे। आरम्भिक और बीच के दौर की कहानियों में जहाँ प्रेमचन्द आदर्शवादी धारणाओं से मुक्त नहीं हो पाये थे, वहाँ इस तथ्य का अहसास जरूर होता है कि वे समाज-सुधार जैसे भावनात्मक मूल्य और आदर्श के प्रति सजग थे और उससे सम्बद्ध कहानियों की रचना करने को प्रतिश्रुत थे, इसलिए वैसी कहानियों में सामाजिक-आर्थिक शोषण और विषमता का चित्रण नहीं के बराबर हुआ है। अगर किसी कहानी में इसका संकेत भी किया गया है, तो उसका विकास उन घटनाओं और प्रसंगों में नहीं दिखलाया गया है, जो कथा की केन्द्रीय वस्तु को उजागर करते हैं। इसका कारण चाहे जो भी हो, इतना जरूर है कि प्रेमचन्द जिस दृष्टि और विचार-प्रणाली के तहत रचना-कार्य कर रहे थे, उनके लिए उससे बिलकुल मुक्त होकर लिखना सम्भव भी नहीं था। इसलिए, ऐसा लगता है कि वे कहीं-न-कहीं अपने पात्रों पर उन आदर्शों को अरोपित कर रहे थे, अर्थात् उन आदर्शों के अनुसार उन कथा-चरित्रों को गढ़ रहे थे।

कहा जाता है कि लेखक तटस्थ नहीं होता, बल्कि किसी-न-किसी रूप में प्रतिबद्ध होता है। इसकी सत्यता इसी अर्थ में प्रमाणित होती है। लेखक की रचनाओं के प्रतिनिधि पात्र या नायक उसकी दृष्टि और विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। हालाँकि,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके विपरीत धारणा रखनेवाले भी लेखक हैं, जो मानते हैं कि लेखक का, कथातत्त्व की स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए तटस्थ रहना आवश्यक है। लेकिन, सच पूछें, तो शायद ही किसी रचनाकार की कृतियों में ऐसा देखा जाता है कि लेखक अपने पात्रों के प्रति बिलकुल तटस्थ रहता है। क्या कारण है कि गोर्की के उपन्यास 'माँ' का नायक पावेल और ओस्त्रोवस्की के उपन्यास 'अग्निदीक्षा' का पावेल अन्त-अन्त तक क्रान्तिकारी भावना से उद्वेलित होते रहते हैं, जबकि ताॅलस्तॉय के उपन्यास 'पुनरुत्थान' का नायक आदर्शवादी बनने के चक्कर में अन्ततः ईसाई-धर्म को समर्पित हो जाता है। यह लेखकीय दृष्टिकोण और पक्षधरता का ही परिणाम है। प्रेमचन्द की आरम्भिक या बाद की कहानियों में उनकी दृष्टि और पक्षधरता को इसी रूप में देखा जाना चाहिए। अपनी परवर्त्ती कहानियों में प्रेमचन्द जिस प्रकार की दृष्टि और पक्षधरता का परिचय देते हैं, वह भी आकस्मिक नहीं था। देश और समाज की परिस्थितियों के साथ-साथ दृष्टिकोण में आये परिवर्त्तन के कारण उन्होंने शोषक-वर्ग के प्रति नफरत पैदा करनेवाले साहित्य की रचना प्रारम्भ की। यह प्रवृत्ति उनकी प्रखर सामाजिक चेतना की सूचना देती है। प्रगतिशीलता के इस दौर में जयशंकर प्रसाद जैसे रचनाकार ने भी 'विरामचिह्न' जैसी कहानी लिखकर अछूतों के मन्दिर-प्रवेश को अपना सबल समर्थन दिया था। प्रेमचन्द ने भी अपने लेखों में इस विषय को उठाया था और अछूतों के मन्दिरों में नहीं जाने देने का कसकर विरोध किया था। इस प्रकार, प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी-साहित्य में एक नये दौर की शुरुआत की थी।

इधर प्रेमचन्द के कथा-शिल्प के सम्बन्ध में लेखकों-समीक्षकों में काफी मतभेद है। चूँकि, कथावस्तु और शिल्प का सामंजस्य उनकी बहुत कम ही कहानियों में मिलता है, इसलिए शिल्प की दृष्टि से उनकी कहानियों को ज्यादा महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। 'कफन', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पूस की रात' आदि कुछ ही कहानियाँ हैं, जो शिल्प की दृष्टि से भी मुकम्मिल हैं। यही कारण है कि ये कहानियाँ ज्यादा प्रभावपूर्ण भी हैं। कहानियाँ प्रायः किस्सागोई के अन्दाज में लिखी गई हैं, इसलिए उनमें बिखराव का आ जाना भी स्वाभाविक है। हालाँकि, बिखराव के बावजूद किस्सागोई की शैली में लिखी गई ये कहानियाँ ज़्यादा लोकप्रिय हुई हैं। प्रेमचन्द की कहानियों की लोकप्रियता के दूसरे कारण भी हैं। एक तो कथा की आदर्शमूलकता के कारण सामान्य पाठकों का आकर्षण उनके प्रति बराबर बना रहता है। वैसे यह कथा-प्रवृत्ति प्रेमचन्द के पक्ष में नहीं जाती। उनके साहित्य के अभिजातवर्गीय पाठकों की संख्या में वृद्धि का यह भी एक प्रमुख कारण रहा है; वैसे उनकी लोकप्रियता का एक और कारण है, और वह है, उनके पात्रों और रचना-स्थितियों की प्रतिनिधिकता और ठेठपन (टिपिकलिटी)। उन्होंने कहानियों में जिस प्रकार के पात्रों और स्थितियों का चित्रण किया है, उनमें जनजीवन के गहरे अनुभवों के साथ-साथ उनके प्रति एक आत्मीयतापूर्ण लगाव और पक्षधरता का भी परिचय मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके कथा-संसार के चरित्र—घीसू, माधव, बुधिया, मुलिया, हल्कू, गंगी, जोखू, शंकर, होरी, गोबर, धनिया, सूरदास आदि अपने वर्गीय चरित्र के ठेठपन के कारण ही आज भी हिन्दी-पाठकों के बीच काफी लोकप्रिय हैं। इन पात्रों के साथ कोई भी पाठक आसानी से तादात्म्य स्थापित कर सकता है। यह प्रेमचन्द की एक बहुत बड़ी विशेषता भी है कि उन्होंने ऐसे दर्जनों ठेठ (टिपिकल) चरित्रों की सृष्टि की है और यह निश्चित रूप से उनकी रचना-क्षमता का सबल प्रमाण है। वैसे भी प्रेमचन्द की कहानियों में प्रवेश करने पर, जो वस्तुगत परिवेश और स्थितियाँ मिलती हैं, वे पहले आकृष्ट करती हैं। इसी से अन्दाज लगाया जा सकता है कि उनके कथा-संसार की स्थितियाँ और पात्र कितने जीवन्त और प्रमाणिक होते हैं।

प्रेमचन्द के लगभग सारे-के-सारे पात्र हमारे समाज के मध्यवर्ग निम्न-मध्यवर्ग और शोषित-वर्ग से आते हैं। इसका कारण भी है; क्योंकि प्रेमचन्द खुद जिस वर्ग से आते थे, उसके करीब के वर्गों के प्रति उनमें बराबर आत्मीयता रही। हालाँकि, आरम्भिक दौर की कहानियों में वे उनको प्रमुखता नहीं दे सके और उन्हें आदर्शवाद का जामा पहनाकर प्रस्तुत किया। यही कारण है कि जिन कहानियों में उनका यथार्थ चित्रण हुआ है, वे अपनी पूरी पहचान के साथ उपस्थित हुए हैं। जिन पात्रों का जिक्र ऊपर किया गया है, उनको प्रेमचन्द ने समाज की विडम्बनामूलक स्थितियों के बीच मजबूती के साथ खड़ा किया है और उनकी जीवनगाथा के माध्यम से पूरे देश के शोषित-पीड़ित जनजीवन की महागाथा की रचना प्रस्तुत की है।

प्रेमचन्द अपने पात्रों के प्रति अपनी पक्षधरता खुलकर व्यक्त करते हैं। जहाँ वे आदर्शमूलकता से मुक्त होकर सामाजिकता से जुड़ते दिखाई पड़ते हैं, वहाँ वे निश्चित रूप से अपने पात्रों के साथ होते हैं। इसलिए, जबकि उनके पात्र तत्कालीन व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त करते होते हैं, तब वे खुद मौन रहते हैं। लेकिन, जहाँ उनके पात्र मुखर होकर विरोध नहीं कर पाते, वहाँ वे लेखकीय वक्तव्यों का सहारा लेते हैं। वैसे जो पात्र शोषित और अछूत जाति के हैं और उनको जिस हद तक सजग और चेतनासम्पन्न दिखलाया गया है, यह उस समय के लिहाज के बिलकुल स्वाभाविक लगता है, लेकिन उनके द्वारा व्यवस्था का विरोध नहीं करते दिखलाया जाना कहीं-कहीं अस्वाभाविक भी लगता है। सम्भव है, वहाँ प्रेमचन्द किसी आदर्श की रक्षा के लिए ही ऐसा कर रहे हों। लेकिन, ऐसा अगर उन्होंने किया भी होगा, तो वह यथार्थवाद के अनुकूल नहीं माना जा सकता। 'ठाकुर का कुआँ' कहानी का जोखू और 'सद्गति' का दुखी जिस प्रकार के अामानवीय सामाजिक परिवेश में रहते हैं, वे सामाजिक रूप से उसी यन्त्रणा के शिकार होते हैं, जिसके शिकार तत्कालीन ग्रामीण परिवेश में रहनेवाले अछूत और बँधुआ मजदूर हो रहे थे। अछूत होने के कारण दोनों ही सामाजिक जीवन में कभी स्वच्छ हवा और पानी के भी अधिकारी नहीं हैं। गन्दी बस्तियों में रहने और गन्दे कुएँ का पानी पीने का अधिकार उन्हें विरासत में मिला है। कहने का तात्पर्य यह कि जोखू और दुखी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की यन्त्रणा की दो स्थितियाँ हैं, लेकिन वे स्थितियाँ एक ही प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की उपज हैं। 'सद्गति' कहानी के अन्त में जहाँ दुखी की लाश को चमरटोली के लोग नहीं ले जाकर अपना विरोध प्रकट करते हैं, वहा वे परम्परित धारणा के विपरीत आचरण करते देखे जाते हैं। हालाँकि, इस कहानी में प्रतिरोध की पूरी-पूरी गुंजाइश थी, लेकिन प्रतिरोध की अपेक्षा सिर्फ ब्राह्मण देवता की अवमानना दिखलाकर कहानी का अन्त कर दिया गया है। यह सच है कि उपर्युक्त दोनों कहानियों के पात्र पुराने संस्कारों और अन्धविश्वासों से ग्रस्त हैं। फिर भी, उनमें एक प्रकार की चेतना भी है, जो उन्हें विरोध की उस स्थिति में भी कम-से-कम ला खड़ा करती है। 'ठाकुर का कुआँ' में प्रेमचन्द सामन्तवाद और ब्राह्मणवाद का एक साथ पर्दाफाश कराते हैं और वह भी अछूत नारी-पात्र गंगी के द्वारा—"हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते। यहाँ तो जितने हैं, एक-से-एक छंटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़ेरिये की एक भेड़ चुरा ली और बाद में मारकर खा गया। इन्हीं पण्डितजी के घर में तो बारहो मास जुआ होता है। यह साहुजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है।"

प्रेमचन्द की जिन कुछेक कहानियों का जिक्र ऊपर किया गया है, उनमें कुछ कहानियों के माध्यम से प्रेमचन्द की रचना-दृष्टि और सामाजिकता की पड़ताल करना होगा। दरअसल, प्रेमचन्द की इन कहानियों का महत्त्व उनके विषयों को लेकर है; क्योंकि प्रेमचन्द ही एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जिनकी कहानियों की वस्तु को प्रमुख रूप से देखने की आवश्यकता है। गुलेरी से प्रेमचन्द इसी अर्थ में भिन्न हैं। गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' शिल्प की दृष्टि से एक मुकम्मिल कहानी होने के कारण ज्यादा प्रभावित करती है। वैसे इसमें शिल्प और वस्तु में पूरा सामंजस्य है, जिसके कारण यह आज भी हिन्दी की चर्चित कहानियों में अपना शीर्षस्थान रखती है। 'उसने कहा था' की केन्द्रीय वस्तु प्रेम और त्याग तथा देशभक्ति की भावना है, जो आज के सन्दर्भ में भी कम महत्त्व की नहीं है। हालाँकि, आज का जो वस्तुगत यथार्थ है, वह अधिकतर आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों के सन्दर्भ में देखा जाता है. इसलिए उनकी प्रासंगिकता भी आज की कहानियों में व्यक्त यथार्थ के ज्यादा करीब हैं। इसलिए, वे शिल्प की कमजोरी के बावजूद गुलेरी की कहानी से कम चर्चित नहीं हैं।

इसके बावजूद, यह तथ्य है कि गुलेरी की उक्त कहानी की तुलना में प्रेमचन्द की बहुत ही कम कहानियाँ सन्तुलित और चुस्त-दुरुस्त हैं। फिर भी, प्रेमचन्द ने कथा-विषय के रूप में जिन जीवन-प्रसंगों को चुना है, वे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए, खासकर उनकी बाद की कहानियों के विषय तो इतने प्रासंगिक हैं कि वे उनके साहित्य के मूल्यांकन के लिए ठोस आधार प्रस्तुत करते हैं। उनकी, सामाजिक सम्बन्धों और पारिवारिक विघटन को लेकर लिखी गई 'अलग्योझा', 'सुभागी', 'माँ' आदि कहानियों में तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्यवर्गीय चरित्र के सामन्ती चरित्र में रूपान्तरित हो जाने की स्थिति का अच्छा चित्रण 'नशा' शीर्षक कहानी में हुआ है। यह कहानी आज भी अपनी प्रासंगिकता को प्रमाणित करने में पूरी तरह समर्थ है। इन विषयों पर हालाँकि आज भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं, लेकिन वे प्रेमचन्द की इन कहानियों की तुलना में ठेठ चरित्रों और स्थितियों के कारण ज्यादा आगे की रचनाएँ नहीं सिद्ध होतीं।

'कफन', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'पूस की रात' जैसी कहानियाँ प्रेमचन्द की आदर्श कहानियाँ हैं, जो संरचना और वस्तु के लिहाज से अपेक्षाकृत ज्यादा सन्तुलित हैं। 'कफन' के माधव और घीसू श्रमिक-वर्ग से आते हैं, लेकिन वे परजीवी चरित्र के रूप में चित्रित किये गये हैं। ये दोनों चरित्र श्रम की मर्यादा को तोड़ते दिखाई पड़ते हैं, अर्थात् श्रम पर आधृत जो एक मर्यादा होती है, उससे ये पात्र रहित हैं; क्योंकि श्रम नहीं करने के कारण ये उत्पादन-सम्बन्धों के दायरे में नहीं आते। ये बुधिया की कमाई पर गुजर-बसर करते हैं। बुधिया के मरने के बाद उसके कफन के पैसे से ये चिर-आकांक्षित भोजन से अपनी क्षुधा की तृप्ति करते हैं। यह एक ऐंसी अमानवीकृत स्थिति है, जिसमें दोनों पात्र पूरी तरह निमग्न हैं। प्रेमचन्द इस कहानी के द्वारा समाज की जिस स्थिति की ओर संकेत करते हैं, उसके मूल में आर्थिक विषमता के साथ-साथ इन चरित्रों की काहिली और परजीविता भी निहित है। इस देश में जहाँ मेहनतकश जनसमुदाय को दोनों जून भरपेट भोजन नहीं मिलता, वहाँ ऐंसे काहिल और परजीवी चरित्रों की स्थिति के बारे में आसानी से अन्दाज लगाया जा सकता है। इसलिए, इनके चरित्र एक ओर जहाँ हास्य का आलम्बन बनते हैं, वहीं दूसरी ओर ये दयनीय रूप में सामने आते हैं।

दरअसल, ऐसे चरित्र हर समय और हर समाज में रहते हैं; जो बराबर दूसरों की दया और सहानुभूति के पात्र बनते हैं। ऐसे पात्रों की दयनीयता का प्रमुख कारण यह है कि ये श्रम नहीं करते। दूसरे, श्रम के अवसर भी इन्हें नहीं मिलते। और, चूँकि इनके लिए श्रम के अलावा और कोई दूसरा जरिया नहीं होता, जिसके बल पर ये अपने सामाजिक अस्तित्व और मर्यादा की रक्षा कर सकें, इसलिए श्रम मर्यादा से रहित होने के कारण ये परजीवी चरित्र के रूप में सामने आते हैं।

इसी तरह 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'पूस की रात' जैसी कहानियों में जिन स्थितियों और प्रसंगों का चित्रण हुआ है, उससे समाज के वर्गीय स्वरूप को अलग-अलग ढंग से समझने में मदद मिलती है। 'शतरंज के खिलाड़ी' का परिवेश ढहती हुई सामन्ती परम्परा और मूल्यों का परिवेश है। निःशेष होती हुई सामन्ती परम्परा किस प्रकार सांस्कृतिक समृद्धि और गौरव से रहित होकर अपनी स्वाभाविक परिणति को प्राप्त होती है, इसका सजीव चित्र इस कहानी में उपस्थित हुआ है।

'पूस की रात' में एक छोटे किसान का चित्रण किया गया है, जो अन्त में कृषि-कार्य से अपने को इसलिए अलग कर लेता है कि भयानक ठण्ड का उसे सामना करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पड़ता है। हालाँकि, कोई किसान महज इसलिए अपने खेत की फसल को वरवाद होते नहीं देख सकता। प्रेमचन्द ने 'मुक्तिमार्ग' में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है : "उसकी (किसान की) सारी कमाई खेतों में रहती है या खलिहानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं अनाज घर में आता है और कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी सन्धि कर ली, तो बेचारा किसान कहीं का नहीं रहता।" इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने की अपेक्षा उनके साथ किसानों के प्रतिरोध का समझौता हो जाना उनके हित में उचित नहीं मानते थे।

इतना जरूर है कि प्रेमचन्द इस तथ्य के चित्रण के जरिये यह दिखलाना चाहते थे कि छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं आने को है, वल्कि उनकी जीवन-स्थिति दिनानुदिन बदतर होती जाती है। यही कारण है कि छोटे किसान और खेतिहर मजदूर कृपिकार्य से विरत होकर जीविका के दूसरे साधन ढूँढ़ने को वाध्य होते हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों के सामाजिक आधार को लेकर जो वातें अक्सर की जाती हैं, उनमें इस वात को अनावश्यक तूल दिया जाता है कि प्रेमचन्द के कथा-संसार में चर्चित ग्रामीण परिवेश और पात्र कल्पित और गढ़े हुए हैं। हालाँकि, इस बात से इनकार भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि किसी रचनाकार की रचना में व्यक्त जीवन-प्रसंग, घटनाएँ, पात्र और परिवेश सही सामाजिक सन्दर्भ में घटित होने के बावजूद सामान्यतः यथातथ्य रूप से वही नहीं होते, जो किन्हीं स्थितियों और घटनाओं के रूप में सामने आते हैं। इसलिए, इस प्रसंग में वहस की गुंजाइश नहीं है। वहरहाल, ऊपर की पंक्तियों में प्रेमचन्द की कहानियों के सामाजिक आधार को लेकर जो बातें की गई हैं, उनके और भी विस्तृत आयाम हो सकते हैं, जिनके सम्वन्ध में अलग से विचार करने की आवश्यकता अव भी वनी हुई है। वैसे प्रेमचन्द के मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन के क्रम में इसकी जरूरत आगे भी वनी रहेगी।

"मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता है। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी खोज में लगा हुआ है। अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद वना देता है; इसीलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।"

—प्रेमचन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द का आदर्श किसान : 'होरी'

डॉ० महेन्द्र गोस्वामी

ग्रामीण समस्याओं के जंजाल से घिरा होरी 'गोदान' का नायक है। भारत की आत्मा गाँव है, तो 'गोदान' की आत्मा होरी। गाँव के गरीब किसानों का प्रतिनिधित्व करनेवाला होरी साफ-साफ कहता है : 'उत्तम खेती, मध्यम बान, निषिद्ध चाकरी, भीख निदान।' सीदा-सादा, भोला-भाला, छल-छद्मों से दूर; मन, वचन और कर्म में समानता लिये हुए वह गाँव का बेटा आता है। वह एक अनपढ़ किसान है। उसका शोषण जमीन्दार और पुरोहित दोनों ही करते हैं, पर क्रान्तिप्रवणता और सुसंगठन के अभाव में वह घुटता हुआ दिखाई पड़ता है। उसका अन्तर्मन आत्मसम्मान की भावना से ओतप्रोत है, तभी तो वह कहता है : "जिन लोगों के पिछले रुपये मुझपर बाकी हैं, उनके पास कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ।"

पारिवारिक मोह से भी होरी वंचित नहीं है। अपने भाइयों में खटपट हो चुकी है, फिर भी वह एक दूसरे की प्रतिष्ठा को अपना ही समझ रहा है। दमड़ी बँसोर द्वारा पुनिया को धक्का देने की बात सुनते ही होरी का खून गरम हो जाता है : "रुपये की गरमी है, तो वह निकाल दी जायगी। अलग हैं, तो इससे क्या हुआ ? हैं तो एक खून। कोई तिरछी आँख से देखे, तो आँख निकाल ले।"

आज के किसानों की भाँति होरी का भी मन स्वभावगत कमजोरियों से भरा है, जिससे उसकी खास खूबियाँ स्वतः ढक जाती हैं। अपनी कमजोरियों के कारण ही वह अपने पूरे परिवार को गर्त्त में डाल देता है, जिससे उसका पारिवारिक जीवन दुःखमय बन जाता है। होरी के स्वभाव की संस्कारगत कमजोरियाँ भी हैं। अपने मालिक राय साहब से भेंट करने की तैयारी करते समय धनिया उसे रस-पानी करके जाने को कहती है, तो वह कहता है : 'जब दूसरों के पाँव तले अपनी गरदन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।' ठकुरसुहाती करके गाँववालों के सामने राय साहब का विश्वासपात्र बनने में वह अपनी प्रतिष्ठा समझता है, जो उसकी भीतरी बेवकूफी को ही प्रकट करता है।

अपने व्यवसाय की मर्यादा की ओर होरी का ध्यान देना स्वाभाविक ही है। बार-बार खेती में घाटा उठाने के बावजूद वह उससे मुँह नहीं मोड़ता। पुत्र द्वारा विरोध करने पर वह कहता है : 'खेती में जो मर्याद है, वह नौकरी में तो नहीं है।'

समाज की रूढि को तोड़ने की क्षमता होरी में नही है। पंचों के पाखण्ड, स्वार्थ और उनके लोभ को वह खूब समझता है, परन्तु उनके निर्णय का विरोध नहीं कर सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह उन्हें परमेश्वर मानता है। धनिया के बार-बार समझाने के बावजूद वह सर झुकाकर 'डाँर' स्वीकार कर लेता है। यहाँ उसकी संस्कारगत गलत भावनाओं की कमजोरी नजर आती है, जो आज गाँव के सीधे-सादे किसानों में पाई जाती है। वह उधार रुपये का बड़ा महत्त्व देता है; लिखा-पढ़ी हो अथवा न हो, उससे मुकर नहीं सकता। महाजन की इच्छा, चाहे वह जितना भी कह दे, उसके लिए भगवान् की वाणी हो जाती है। दातांदीन धर्म की दुहाई देकर जब उसे धमकाते हैं: "इस तरह का व्यवहार हुआ, तो संसार कै दिन चलेगा ?....मैं ब्राह्मण हूँ। मेरे रुपये हजम करके चैन न पाओगे।" उसका हृदय ब्रह्मकोप से डर जाता है। वह पण्डित के पैरों पर गिरकर कहता है: 'महाराज जबतक जिन्दा हूँ, तुम्हारी एक-एक पाई चुकाऊँगा।' इसी तरह, उसके दोनों बैलों को खोलकर भोला जब चलने लगता है और पूरा गाँव होरी का पक्ष लेकर आता है, तब वह अपने धर्मभाव में ही दोनों बैलों को खो देता है। पूर्वजन्म और कर्मानुसार फल पर जैसे आज लोगों का विश्वास है, होरी भी इस रोग का शिकार है। उसका विश्वास है—'छोटे-बड़े भगवान् के ही घर से बनकर आते हैं।'

पेट की भूख होरी की नीयत खराब करवा देना चाहती है। अपने भाइयों का बाँस बेचकर उसमें कुछ पैसे वह मार लेने की बात सोचता है। दरिद्रता उसे निर्लज्ज भी बना देती है—"यही होगा न कि भोला बार-बार तगादा करने आयेगा। बिगड़ेगा, गालियाँ देगा, पर इससे अपना क्या बिगड़ता है।"

यों, होरी के चरित्र में लाख दोष हों, पर वह किसान है और स्वार्थी होते हुए भी 'किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही नहीं।' भोला से गाय ऐंठ लेने की बात वह सोचता है, परन्तु भोला के संकटकाल में अपना भूसा देकर भी वह गोमाता की रक्षा करता है। किसी के संकट के समय की चीज लेना वह पाप समझता है—"भूंसे के लिए तुम गाय, बेचोगे और मैं लूंगा ? किसी भाई के नीलाम पर चढ़े बैल लेने में जो पाप है, वह इस समय तुम्हारी गाय लेने में है।" वह केवल कहता ही नहीं, अपने पुत्र के सिर पर चढ़वाकर भोला जैसे चालाक आदमी के घर भूसा भिजवाता है। यहाँ होरी के द्वारा भारतीय ग्रामीण संस्कृति की रक्षा की गई है, जहाँ आज भी अतिथि को खिलाकर अपने भूखा रहने की बात कही जाती है। रोटी की चिन्ता से चूर होरी को पत्नी और पुत्र की व्यंग्य-भरी बातों को चुपचाप सहना पड़ता है। मर्यादा का लोभ इतना है कि महाजनों और मालिकों की झिड़कियाँ भी वह ईश्वर का प्रसाद मानकर सहन करता रहता है।

जब-तब होरी का भी हृदय विस्फोट कर बैठता है। अनसाकर वह कहता है: 'मजूरी करना पाप नहीं है।' आजीवन खून-पसीना एक करते रहने के बाद भी पत्नी, पुत्र, पुत्री, पतोहू, पौत्र किसी की भी वह सुख-लालसा पूरी न कर सका। धनिया गृहस्थी के सुख का अन्त तक भी अनुभव नहीं कर सकी। बच्चे छोटी-चोटी चीजों के लिए तरस कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रह जाते हैं, होरी सब कुछ देखता रह जाता है। वह इसे भगवान् का दिया हुआ दुःख समझता है।'उसके जीवन को दैविक विपत्ति कभी भरमा न सकी, परन्तु रूपा के विवाह की समस्या उसे मर्माहत कर देती है। वह तिलमिला कर शक्ति से अधिक परिश्रम करने लगता है। उसे प्रकृति से डर नहीं। सब पर विजय पायेगा। लू में काम करने पर उतारू हो जाता है।

होरी के चिरसंचित साध को पूरा करने के लिए उसकी पुत्री रूपा एक गाय भिजवाती है। वह उसका दाम चुकाने के लिए तड़प उठता है। प्रखर धूप में, वह खून-पसीना एक करके काम में लगा हुआ है। प्रकृति तुरन्त दण्ड देने में जरा भी दया नहीं दिखलाती। होरी अपने शरीर को गाँव की धरती के लिए देकर, उसका कर्ज चुकाकर, सदा के लिए चला जाता है। भारत की आत्मा में अपने-आप को विलीन कर वह उऋण हो जाता है।

△ सम्पादक, 'आपन गाँव' (भोजपुरी-मासिक)
कुलहरिया (भोजपुर)

"अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं, मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते, जबतक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है, और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं—उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है; बल्कि कहानी पढ़कर वह लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं, जिनपर साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान में या कब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थानों पर पहुँचकर रोने लगते हैं।"

△ प्रेमचन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द-साहित्य पर गान्धी-विचार का प्रभाव

श्रीधर्मेन्द्रकुमार तिवारी

उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द रूसी क्रान्ति से प्रभावित थे—इस तथ्य का जोर-शोर से प्रचार हो रहा है। किन्तु, यदि आज वे जीवित होते, तो गान्धीवाद के प्रति अपनी सहज श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहते : "लाल क्रान्ति को मैं भी पसन्द नहीं करता। भारत का समाजवाद भी यूरोप जैसा ही हो, यह आवश्यक नहीं। यहाँ तो वेदान्त का एकात्मक समाजवाद पहले से मौजूद है।"[1] मार्क्सवादी आलोचक डॉ० नामवर सिंह का कहना है : "....वे उस (रूसी क्रान्ति) की बुराइयों के प्रति सावधान थे। जिन्होंने बाबू सम्पूर्णानन्दजी की पुस्तक 'समाजवाद' पढ़ी है, उन्हें मालूम है कि बाबू सम्पूर्णानन्दजी ने वेदान्त से प्रभावित समाजवाद का समर्थन किया था। शायद यह उनकी महत्त्वपूर्ण स्थापना थी।.... रूसी क्रान्ति के प्रभाव के मार्क्सवादी होने या कम्युनिस्ट होने की बात कहना ठीक नहीं है। रूस को साम्राज्यवादी कहनेवाले भी रूसी क्रान्ति से प्रभावित रहे हैं।"[2] डॉ० सिंह ने उन लोगों को, जो प्रेमचन्द को कम्युनिस्ट कहते हैं, दोटूक जवाब देते हुए एक संगोष्ठी में कहा था : ".... प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में गाय को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। भला गाय से कम्युनिस्टों का क्या मतलब? ऐसे ही प्रेमचन्द स्वराज्य के गहरे हिमायती थे, जबकि मार्क्सवादियों की दृष्टि में रूस प्रथम था और स्वराज्य द्वितीय।"[3] इतना ही नहीं, बल्कि उनका यह भी कहना था : "कम्युनिस्टों का मुख्य आधार किसान की अपेक्षा मजदूर रहे हैं, जबकि प्रेमचन्द मूलतः गाँव और किसान के लेखक हैं। उन्होंने, चरखे का समर्थन किया और खड़ी मिल में आग लगवा दी। गान्धी विदेशी वस्त्र जलाते थे, प्रेमचन्द ने मिल में ही आग लगा दी। ठीक ही है। चरखे को आर्थिक और आत्मिक उन्नति का साधन माननेवाले से और आशा भी क्या की जा सकती है?"

हैदराबाद-विश्वविद्यालय में प्रेमचन्द पर आयोजित संगोष्ठी (२२, २३ और २४ अक्टूबर, १९८१ ई०) में डॉ० नामवर सिंह ने जनवादी लेखकों को ललकारते हुए कहा था : 'वे (प्रेमचन्द) मार्क्सवादी या रूसवादी बिलकुल नहीं थे।'[4] डॉ० युगेश्वर भी यही कहते हैं कि प्रेमचन्द कभी मार्क्सवादी या रूसवादी रहे ही नहीं।[5] यदि वे मार्क्सवादी होते, तो गाय, गाँव और किसान को अपनी रचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देते। इसी तरह, वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा एवं हृदय-परिवर्त्तन की भी बात नहीं करते। यदि रूसवादी होते, तो स्वतन्त्रता-संग्राम का प्रचारक नहीं बनते।

गान्धी-युग का प्रभाव : मुंशी प्रेमचन्द जिन दिनों साहित्य-सृष्टि में लगे थे, राजनीति के क्षेत्र में वह गान्धीजी का युग था।[६] गान्धीजी ने अपने युग को अपने विचारों से प्रभावित किया और देश में एक ऐसा गिरोह तैयार हो चुका था, जो उनके आदर्श और आदेश के अनुसार भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग ले रहा था। उन दिनों प्रेमचन्द नौकरी करते हुए भी गान्धी-विचार के प्रचार में लगे थे। इस तथ्य की पुष्टि उनकी कहानी 'पंच परमेश्वर' (सन् १९१६ ई०) और 'सेवासदन' (सन् १९१६ ई०) से होती है। इस तथ्य को आचार्य बंगाली सिंह बड़े ही सुन्दर ढंग से कहते हैं :

"प्रेमचन्दजी का युग गान्धी का युग, स्वतन्त्रता-आन्दोलन का युग था। गान्धी केवल राजनीतिक नेता नहीं थे। उनका भी विश्वास था कि जबतक देश के साधारण लोगों का सामाजिक, वैचारिक स्तर नहीं बदलेगा, तबतक राजनीतिक आन्दोलन भी सुचारु रूप से नहीं चलाया जा सकेगा। इस आन्दोलन में, कोई माने, न माने, विप्लव-वादियों ने भी बहुत योग दिया। भगतसिंह, राजगुरु, खुदीराम बोस और जाने कितने वीरों ने ज्ञात और अज्ञात रूप में भारतमाता के चरणों पर अपनी बलि चढ़ा दी। विश्व की सबसे बड़ी सत्ता—ब्रिटिश सत्ता की जड़ हिल गई और मैं कहना चाहूँगा कि प्रेमचन्द के साहित्य ने भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्वातन्त्र्य-आन्दोलन को बल प्रदान किया। यह सच है कि वह युग आश्रम का युग था। गान्धीजी ने सेवाग्राम में आश्रम खोला था। प्रेमचन्द ने भी दो विशाल आश्रमों—प्रेमाश्रम और सेवासदन—की स्थापना की थी, जिनमें ऐसे लोगों को आश्रय मिला, जो पूँजीवादी और जमीन्दारी समाज से प्रताडित, उपेक्षित और निरादृत थे। प्रेमचन्द ने इन सेवाश्रमों के माध्यम से बताया कि समाज-सेवा का अधिकार जैसे समाज के बड़े कहलानेवाले लोगों का है, वैसा ही अधिकार प्रताडितों, उपेक्षितों और निरादृतों का भी है। प्रेमचन्द ने ऐसे लोगों को भी उसी पंक्ति में बैठाया, जिस पंक्ति में बड़े कहलानेवाले लोग बैठे थे।"[७]

सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं विख्यात क्रान्तिकारी श्रीमन्मथनाथ गुप्त ने प्रेमचन्द को गान्धी-विचार के प्रचारक के रूप में चित्रित करते हुए लिखा है :

"....प्रेमचन्द की रचनाओं में हम स्पष्ट रूप से वास्तविकता की ओर क्रमिक यात्रा देख सकते हैं। यों तो, वे वस्तुवादी थे, किन्तु उनके वस्तुवाद पर अपने युग का एक हल्का-सा गुलाबी परदा पड़ा हुआ था, जिसके वशवर्त्ती होकर वे अपने अधिकांश उपन्यासों को आश्रम में ले जाकर खतम करते थे। उन दिनों युग के प्रभाव के कारण वे यह समझते थे कि जग सुधारने का तरीका अपने को सुधारना है, यह केवल एक शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न है, लोगों को ढंग से शिक्षा दे दी, अधिक-से-अधिक कुछ आत्मत्याग कर दिया, तो स्वयं सब बातें हो जायेंगी। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि प्रेमचन्दजी ने जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार के विचारों को अपनाकर उन दिनों अपनी कला की सृष्टि की थी, वह उस युग में गान्धीवाद के नाम से परिचित थी।"[८] गुप्तजी ने अपने कथन को और स्पष्ट करते हुए लिखा : "वे (गान्धीजी) सामाजिक तरीके से जगत् को सुधारने के बजाय उसे एक वैयक्तिक प्रश्न बनाकर अपने को सुधारने के द्वारा जगत् को सुधारना चाहते थे।.... प्रेमचन्दजी इसी विचार को केन्द्रबिन्दु बनाकर अपनी रचनाओं को तैयार करते थे, विशेषकर 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि' और 'कायाकल्प' में वे इसी विचारधारा के इर्द-गिर्द अपनी कला को विचरण करने देते हैं।"[९] गुप्तजी का यह भी कहना है कि "उनके उपन्यासों में 'कर्मभूमि' एक तरह के समझौते में, अर्थात् सरकार के हृदय-परिवर्त्तन में खतम होता है। 'प्रेमाश्रम', 'सेवासदन', 'गबन' और 'प्रतिज्ञा' किसी-न-किसी प्रकार के आश्रम या अनाथालय में समाप्त होते हैं। 'निर्मला' का अन्त नायिका की मृत्यु से होता है, किन्तु यहाँ भी पति को गृहत्यागी दिखलाया गया है। इस प्रकार, 'गोदान' के अतिरिक्त, जितने भी उपन्यास हैं, उनमें किसी-न-किसी प्रकार से समझौता, हृदय-परिवर्त्तन और आश्रमत्याग से पुस्तक का अन्त किया गया है।"[१०] गुप्तजी यह भी कहने में नहीं हिचकते कि 'प्रेमचन्दजी गान्धीवाद के कायल थे।'[११] उनमें वे 'गान्धीवाद का जबरदस्त पुट पाते हैं।'[१२] गुप्तजी का यह वाक्य प्रेमचन्द के सम्बन्ध में निष्कर्ष जैसा लगता है।

गान्धी-विचार के प्रभाव के कारण प्रेमचन्दजी को नौकरी छोड़नी पड़ी। नौकरी छोड़कर स्वतन्त्र रूप से स्वतन्त्र देश के निर्माण के लिए अपने समाज और राष्ट्र की समस्याओं का आधार बनाकर उत्प्रेरक साहित्य के सर्जन में गहन रूप से लग गये।[१३] गान्धीजी के प्रभाव की व्याख्या करते हुए डॉ० ए० एन्० शर्मा ने लिखा है : "प्रेमाश्रम सन् १९२० ई० में पूरा हुआ। अबतक प्रेमचन्द नौकरी किसी तरह खींचे जा रहे थे। गरचे इसके कारण लेखन में कम बाधा नहीं पड़ती थी और आत्मसम्मान को भी आघात लगता था। ....इधर गान्धीजी ने असहयोग का बिगुल फूँक दिया था। प्रेमचन्द कुछ दिनों तक असमंजस में रहे। (क्योंकि, रोटी के लिए सहारा तो चाहिए ही)। उन्होने पत्नी से विमर्श किया और अन्त में १६-२-१९२१ ई० को दो दशक पुरानी दासता की जंजीर काटकर अलग हो गये।"[१४] और, सन् १९२० से १९३५-३६ ई० तक उन्होंने न केवल उपन्यास एवं कहानियों के माध्यम से गान्धी-विचार का प्रचार किया, बल्कि सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा भी गान्धी के कार्यक्रमों एवं विचारों का समर्थन किया।[१५]

उपन्यासों में गान्धी-विचार : प्रेमचन्द के उपन्यासों को देखने से ऐसा लगता है कि इनके उपन्यास गान्धी-विचार के व्याख्याता हैं : जैसे 'सेवासदन' (सन् १९१६ ई०), 'प्रेमाश्रम' (सन् १९२२ ई०), 'निर्मला' (सन् १९२३ ई०), 'रंगभूमि' (सन् १९२५ ई०), 'कायाकल्प' (सन् १९२८ ई०), 'गबन' (सन १९३१ ई०), 'कर्मभूमि' (सन् १९३२ ई०), 'गोदान' (सन् १९३६ ई०)[१६] एवं अन्य उपन्यास। इन उपन्यासों में कुछ को उदाहरण-स्वरूप रखा जा सकता है :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रंगभूमि : 'रंगभूमि' में गान्धीवादी आदर्शों की छाया स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। 'रंगभूमि' का सूरदास गान्धीजी के विराट् व्यक्तित्व का लघु रूप प्रतीत होता है। उसके माध्यम से एक ओर अहिंसा की ताकत आजमाई गई है, तो दूसरी ओर औद्योगिक व्यवस्था की तुलना में कृषि-सभ्यता की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। हालाँकि, 'रंगभूमि' भी शुद्ध राजनीतिक उपन्यास नहीं है, फिर भी सूरदास, जानसेवक से अपनी जमीन बचाने के लिए जो रणनीति अपनाता है, उसके द्वारा गान्धीजी के सत्याग्रह-संग्राम की एक अच्छी झलक मिलती है। यह अहिंसक लड़ाई केवल हिन्दुओं का विशेषाधिकार नहीं, उसमें मुसलमानों का भी योग रहा है। रेखांकित करने के लिए प्रेमचन्द ने इन्द्रदत्त और विनय सिंह के साथ एक मुसलमान युवक की भी शहादत दिखाई है। इसमें हिन्दू-मुसलमान-एकता की बात दृष्टिगोचर होती है।

गबन : गान्धीजी की यह मान्यता थी कि नारी का असली आभूषण सोने-चाँदी से निर्मित आभूषण नहीं है, बल्कि वह तो प्रेम, वात्सल्य, सेवा एवं त्याग है। यदि नारी इन वास्तविक आभूषणों को छोड़कर कृत्रिम आभूषणों से प्रेम करने लगती है, तो वह पिशाचिनी बन जाती है और उससे बड़ी क्षति होती है। इस तथ्य को प्रेमचन्द ने बड़े सुन्दर, सहज एवं रोचक ढंग से 'गबन' में दिखलाया है। इसके अतिरिक्त, स्वदेशी-आन्दोलन का भी प्रचार दिखाई पड़ता है।

कर्मभूमि : यह उपन्यास भी गान्धीवादी विचारधारा के अन्तर्गत ही आती है। इसे देखने से यह स्पष्ट होता है कि इसका मुख्य पात्र काँगरेसी है, वह चरखा चलाता है, खद्दर बेचता है, गाँव में जाने पर चरखे का प्रचार करता है, ग्रामसुधार का काम करता है एवं हरिजनों में सुधार लाता है। इतना ही नहीं, वरन् वह कृषक-आन्दोलन का नेता बनकर जेल जाता है तथा अन्त में सरकार का हृदय-परिवर्त्तन होता है। मुन्नी सत्याग्रही के रूप में आती है तथा चमारों का हृदय-परिवर्त्तन कराती है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास के माध्यम से निःशुल्क शिक्षा एवं नारी-जागरण की भी बात की है।

निर्मला : गान्धीजी तिलक-दहेज के साथ ही आर्थिक एवं सामाजिक विषमता के भी खिलाफ थे। वे सदियों से पद-दलित नारियों का उत्थान चाहते थे। प्रेमचन्दजी ने 'निर्मला' में एक पद-दलित नारी का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें दहेज की कुप्रथा के साथ ही सामाजिक विषमता का भी विशद वर्णन मिलता है। इसी तरह, इसमें बेमेल एवं विधुर-विवाह का कुप्रभाव भी देखने को मिलता है।

कायाकल्प : इसमें भी गान्धी-दर्शन स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। जैसे, चक्रधर का यह कहना कि "मैंने प्रजा को उनके अधिकार अवश्य समझाये हैं, लेकिन यह कभी नहीं कहा कि राजा को संसार में रहने का कोई हक नहीं; क्योंकि मैं जानता हूँ, जिस दिन राजाओं की जरूरत न रहेगी, उस दिन उनका अन्त हो जायेगा। देश में वही होती है, जिसका वह अधिकारी होता है।" यह कथन गान्धीजी के कथन जैसा ही लगता है। इसी तरह, अनेक स्थलों पर गान्धी-दर्शन का दिग्दर्शन प्राप्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवासदन : गान्धीजी वेश्या-वृति को सामाजिक जीवन का कलंक मानते थे। इसे दूर करने के लिए वे हमेशा चिन्तित रहे। गान्धीजी के इस विचार का विशद वर्णन 'सेवासदन' में मिलता है। इसमें प्रेमचन्द ने सदियों से उपेक्षित और पद-दलित नारी को परखा और उसके प्रति सहानुभूति और न्याय की माँग की है।

प्रेमाश्रम : भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है। लेकिन, गाँव में रहनेवाले किसान अतिदीन स्थिति में अपनी जिन्दगी बिताते हैं। वे नाना प्रकार के अत्याचार एवं शोषण के बीच जीते हैं। गान्धीजी ने इस प्रकार के चिन्तन ही नहीं दिये, बल्कि किसानों के उद्धार एवं उत्थान के लिए अनेक प्रयास भी किये। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में किसानों के दैन्य और उनपर होनेवाले अत्याचारों का मार्मिक दृश्य दिखलाई पड़ता है।

गोदान : यह प्रेमचन्द की अन्तिम कृति 'मंगलसूत्र' के पहले की कृति है। कुछ लोग इस पुस्तक में गान्धी-दर्शन नहीं देखते।[१७] लेकिन, वास्तविकता यह है कि इसमें गान्धी का उदात्त चरित्र दिखाई पड़ता है। इसमें जिन समस्याओं को उठाया गया है, उन्हें उन दिनों गान्धीजी ने उठाया था, जैसे व्यवस्था-परिवर्त्तन की समस्या, शोषण की समस्या; पारिवारिक विघटन की समस्या, मजदूरी की समस्या, नारी-समस्या, जातीयता की समस्या आदि। कोई भी तटस्थ व्यक्ति इस उपन्यास का अवलोकन करने के बाद यहीं कहेगा कि इसमें उन्हीं समस्याओं को उठाया गया है, जिन्हें गान्धीजी ने उठाया था।

कहानियों में गान्धी-दर्शन : जिस प्रकार, प्रेमचन्द के उपन्यासों में गान्धी-दर्शन दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार उनकी कहानियों में भी। उदाहरणस्वरूप : 'पंच परमेश्वर' (सन् १९१६ ई०) को देखा जा सकता है। यद्यपि यह कहानी देखने में राजनीतिक नहीं लगती, तथापि इसमें स्वतन्त्रता-आन्दोलन के दो महत्त्वपूर्ण पक्षों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है : १. साम्प्रदायिक एकता तथा २. सत्ता का विकेन्द्रीकरण—पंचायती राज। इन दोनों पक्षों पर उन दिनों गान्धीजी का प्रचार जोरों पर था। गान्धीजी यह मानते थे कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हिन्दू-मुसलमानों का साथ मिलकर 'जंगे-आजादी' में हिस्सा लेना अति आवश्यक है। गान्धीजी अँगरेजों की नीति—'डिवाइड ऐण्ड रूल' समझ गये थे। अतः, उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों से अपील की : 'यूनाइट ऐण्ड फाइट।' इसके लिए गान्धीजी प्रतिदिन प्रार्थना भी करते थे—'ईश्वर अल्ला तेरो नाम, सबको सन्मति दे भगवान।' अर्थात्, हिन्दू-मुसलमान मिलकर आजादी की लड़ाई लड़े, इसके लिए भगवान् उन्हें सुमति दे। इस अपील को जन-जन तक पहुँचाने का प्रेमचन्द ने प्रयास किया। उन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में साम्प्रदायिक सौमनस्य का ताना-बाना बुना। 'पंच परमेश्वर' इस प्रयास का पुरोवाक् है। इसके साथ ही, इस कहानी में गान्धी के पंचायती राज का भी सपना देखा गया है। इस प्रकार, इस कहानी में गान्धी-दर्शन के दो तत्त्व साम्प्रदायिक एकता, सद्भाव एवं सत्ता के विकेन्द्रीकरण का दर्शन होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द की 'आहुति' कहानी में भी गान्धी-दर्शन का पुट मिलता है। जैसे कहानी की नायिका रूपमणि गान्धी की, व्यवस्था-परिवर्त्तन की बात उठाते हुए कहती है : "अगर, स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का प्रभुत्व बना रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थी बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा है... जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं? कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ वहीं कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जायें।"[१८]

प्रेमचन्द की करीब २५० कहानियाँ हैं, जिनमें किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही गान्धी-दर्शन झलक जाता है। जैसे : 'ठाकुर का कुआँ'—अछूतोद्धार की समस्या; 'सवा सेर गेहूँ' एवं 'पूस की रात'—शोषण एवं दरिद्रता-दीनता की समस्या। इसी तरह, 'कफन' में प्रेमचन्द गान्धी की भाँति ही गरीबों के प्रति जिस असीम सहानुभूति के साथ दुनिया के सामने आते हैं, वह अतुलनीय है।

सन्दर्भ-संकेत :

१. दै० 'आज' (पटना), दिनांक ९-११-८१।
२. हैदराबाद-विश्वविद्यालय में प्रेमचन्द पर आयोजित संगोष्ठी (२२, २३ और २४ अक्टूबर, १९८१ ई०)।
३. दै० 'आज' (पटना), ९-११-८१।
४. है० वि० वि० संगोष्ठी (अक्टूबर, सन् १९८१ ई०)।
५. उपरिवत्।
६. 'दृष्टि (प्रेमचन्द-विशेषांक, सन् १९८१ ई०), पृ० १८।
७. उपरिवत्, पृ० २४।
८. मन्मथनाथ गुप्त : प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार, पृ० ४७७।
९. उपरिवत् : पृ० ४७८।
१०. उपरिवत्।
११. उपरिवत्, पृ० ४७८ एवं ४८०।
१२. उपरिवत्, पृ० ४७९।
१३. 'दृष्टि', प्रेमचन्द-विशेषांक, पृ० १८।
१४. उपरिवत्, पृ० ३४।
१५. उपरिवत्, पृ० ३६।
१६. मन्मथनाथ गुप्त, उपरिवत्, पृ० १४०।
१७. उपरिवत्, पृ० ३३८।
१८. प्रेमचन्द जीवन और कृतित्व, पृ० १३४-३५।

△ सदस्य
अखिलभारतीय गान्धी-विचार-परिषद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानवीय मनोव्यथा का महान् चितेरा : मुंशी प्रेमचन्द

△ डॉ० विद्यावती जैन

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मुंशी प्रेमचन्द एक जाज्वल्यमान नक्षत्र की तरह सुशोभित हैं। उन्होंने अपनी तूलिका से भारतीय मनोव्यथा, विशेषतया ग्राम्य जीवन के जो मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किये हैं, वे असाधारण हैं। यही कारण है कि समीक्षकों ने उन्हें टॉल्स्टॉय, बाबा गोर्की एवं ऐण्टन चेखोव जैसे विश्व के महान् कथाकारों की श्रेणी में परिगणित किया है।

जिस समय हिन्दी-कहानी एवं उपन्यास अपनी प्रारम्भावस्था में थे, तथा जिनमें विषय की न तो कोई सीमित परिधि थी और न प्रौढता ही, उस समय मुंशी प्रेमचन्द ने अपनी कुशल लेखनी एवं साक्षात् अनुभूति के साथ हिन्दी-कथासाहित्य में प्रवेश किया और सीधी-सादी, सरल एवं लोक-प्रचलित सहज भाषा, ऐन्द्रजालिक एवं कल्पना-लोक से परे यथार्थवादी ऐहिक विषय तथा आडम्बर-विहीन सर्वगम्य शैली द्वारा उसे एक नई दिशा प्रदान की। अपनी इसी विशिष्ट गुणवत्ता के कारण वे हिन्दी-जगत् में उपन्यास-सम्राट् जैसे महामहिम पद से विभूषित हुए।

पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी-साहित्य में एक विशेष उद्देश्य लेकर आये। उनसे पूर्व के हिन्दी-कथासाहित्य का मूलाधार प्रायः तिलस्मी, पौराणिक अथवा सामन्तयुगीन विचारधाराएँ ही थीं। उस समय का साहित्यकार वास्तविक जीवन से उड़कर केवल कल्पना-लोक में ही विचरता रहता था। किन्तु, संयोग से उसी समय रूसी राज्यक्रान्ति हुई। उसने रूसी-साहित्य को तो प्रभावित किया ही, भारतीय विचारधारा भी उससे अछूती न रह सकी। रूस में उस समय टॉल्स्टॉय एवं गोर्की जैसे कथाकार शोषक तथा शोषितों के विभेद को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो चुके थे। हिन्दी-कथासाहित्य के क्षेत्र में मुंशी प्रेमचन्द ने उनसे प्रभावित होकर सर्वप्रथम शोषक एवं शोषितों के बीच की भीषण खाई को पाटने की दृढ प्रतिज्ञा की। उन्होंने व्यक्ति, समाज और देश की समस्याओं का न केवल गहन अध्ययन किया, अपितु शोषितों का पक्ष लेकर उनकी आवाज को बुलन्द करने का भी निर्णय किया और भारतीय जीवन में उस भावुक कथाकार को जहाँ भी पीडा या शोषण का अनुभव हुआ, उसका मार्मिक चित्र उसने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहाँ यह सत्य है कि व्यक्तिगत समस्याएँ एवं दुर्बलताएँ और फिर समाजगत अथवा जातिगत समस्याएँ मुंशी प्रेमचन्द की दृष्टि से ओझल न हो सकीं, वहाँ यह भी सत्य है कि उनके स्वयं के यातना-पूर्ण एवं अभावग्रस्त जीवन ने भी उनके दृष्टिकोण को स्थिर करने में पूर्ण सहायता प्रदान की। अनवरत संघर्ष और निर्मम वातावरण ने उन्हें मानवीय विषमताओं और वेदनाओं का साक्षात् द्रष्टा बना दिया था। यही कारण है कि समष्टिगत तथा व्यष्टिगत बुराइयों और निर्बलताओं का वे सजीव चित्रण कर सके। इस प्रकार, उनकी कहानियाँ एवं उपन्यास जहाँ पाठकों के मनोरंजन के सर्वोच्च साधन बने, वहीं वे विचारोत्तेजक भावना तथा ज्ञानवर्द्धन के भी प्रमुख कारण बन सके। समीक्षकों का कथन है कि मानव-जगत् का शायद ही ऐसा कोई पक्ष हो, जिसकी उपेक्षा उनके कथा-साहित्य में हुई हो। उनके साहित्य में जीवन के अच्छे और बड़े दोनों ही प्रकार के चित्र हस्तामलकवत् होकर पाठकों को निश्चय ही सत् की प्रेरणा और असत् की ओर से निवृत्ति का उपदेश देते हैं। सत् एवं शाश्वत साहित्य की यही सबसे बड़ी विशेषता भी मानी गई है।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में किसानों की दुर्दशा, उनकी शोचनीय स्थिति, जमीन्दारों के निर्मम अत्याचार, पुलिस और सरकारी अफसरों की दुष्ट स्वार्थवृत्ति तथा जघन्य अपराध, दहेज की कुप्रथा, वेश्याओं का कृत्रिम जीवन, बहुविवाह और उसके दुष्परिणाम, राजनीतिक आन्दोलन, अनैतिक दलबन्दी, अन्धविश्वास, पाखण्ड, झूठ-फरेब, अमीरों की हृदयहीनता आदि के जीवन्त चित्रण उनके विविध पात्र-पात्राओं के माध्यम से हुए हैं।

'प्रेमा' मुंशी प्रेमचन्द का सर्वप्रथम उपन्यास माना गया है, जो आकृति में तो अत्यन्त लघु है, किन्तु उसमें भारतीय सामाजिक जीवन के लिए अभिशप्त एक विधवा की करुण कथा का विराट् मर्मस्पर्शी इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। उसमें प्रसंगवश विधवाओं की अकथनीय हृदयविदारक विषम परिस्थितियों का चित्रण कर उनकी समस्या का समाधान पुनर्विवाह के रूप में उपस्थापित किया गया है। इस दिशा में मुंशी प्रेमचन्द ने सम्भवतः सर्वप्रथम समाज की, अन्धविश्वासों से भरी हुई सिलपट एवं फूहड़ कुरीति की घोर निन्दा करके समाज को गुमराह करनेवाले तथाकथित नेताओं की अच्छी खोज-खबर ली है।

अपने दूसरे उपन्यास 'सेवासदन' में इसी समस्या के साथ दहेज-प्रथा के दुष्परिणामों का चित्रण कर अनमेल विवाह के कारण कुपथगामिनी बननेवाली स्त्रियों के जीवन पर मार्मिक प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त, हमारा समाज विधवाओं के साथ किस प्रकार का तिरस्कार-पूर्ण व्यवहार करता है तथा विपरीत परिस्थितिवश उन्हीं के वेश्या बन जाने पर समाज के लम्बी नाकवाले नेता किस प्रकार उनके चरणों में लोट-पोट होते रहते हैं, इसका व्यंग्यगर्भ शैली में प्रभावोत्पादक चित्रण किया गया है। वेश्याओं द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यतीत किये जानेवाले घृणित जीवन को समाज का कोढ़ बतलाते हुए उनके उद्धार के लिए कथाकार ने मार्मिक अपील की है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि उन्होंने अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में भारतीय समाज की कुरीतियों का खुलकर विरोध किया है और शोषित, उपेक्षित एवं पीडित व्यक्तियों के प्रति अपनी गहरी संवेदना प्रकट की है।

'प्रेमाश्रम' में, लेखक की, कमाल दिखलानेवाली कलम ने किसान और जमीन्दार के बीच अधिकार-युद्ध का सफल चित्रण किया है। लेखक की यह पक्की धारणा है कि तपती जेठ की दुपहरी में अर्द्धनग्न एवं खाली पेट काम करनेवाले किसानों के दुःखों का मूल कारण जमीन्दार एवं जमीन्दारी-प्रथा है। इस शोषण की दशा में आमूलचूल परिवर्त्तन ही पृथिवीपुत्र कृषकों की विषम समस्या का सच्चा समाधान हो सकता है। राजनीतिक विचारकों एवं समाजसुधारकों ने इसी विचारधारा को साम्यवाद की संज्ञा प्रदान की है और इसी विचारधारा के कारण मुंशी प्रेमचन्द को भारतीय साम्यवादी कथाकार भी माना जाने लगा।

उक्त उपन्यासों के पश्चाद्वर्त्ती कालों में भारतीय सत्याग्रह का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। समस्त भारतीय जातियाँ परस्पर एक होकर राजनीतिक आन्दोलनों में जुट गईं। उस समय सभी भारतीयों का लक्ष्य केवल स्वतन्त्रता-प्राप्ति ही हो गया। स्वदेश और स्वदेशी का नारा बुलन्द होने लगा। महात्मा गान्धी का प्रभाव दिनानुदिन बढ़ने लगा और उसी समय मुंशी प्रेमचन्द की लेखनी ने व्यक्तिगत और जातीय क्षेत्र से ऊपर उठकर राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया। इसका स्पष्ट दर्शन उनकी 'रंगभूमि' उपन्यास में होता है। विनय और सोफिया के व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं के साथ-साथ लेखक समस्त राष्ट्र की भावनाओं का भी चित्रण करता है। पशुबल का आत्मिक बल से कैसे मुकाबला किया जा सकता है, इसका दर्शन सूरदास के चरित्र में होता है। सरकारी अफसरों की धाँधली और अत्याचार, राजाओं की चाटुकारिता-प्रियता, अमीरों का स्वेच्छाचार, म्युनिसपैलिटियों और कौंसिलों में भारतीय सदस्यों की, हितकारी कार्यों को न कर पाने की विवशता आदि का सिंहावलोकन और उसका निर्भीक चित्रण उक्त बृहद् उपन्यास में मिलता है। गाँवों को उजाड़ कर उनके स्थान पर किस प्रकार बड़े-बड़े राक्षसी कारखाने बने; किसानों को प्रलोभन देकर उन्हें किस प्रकार मजदूर बनाया गया और कैसे वे अनाचारी बने, आदि बातों पर उसमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

'रंगभूमि' के पश्चात् प्रेमचन्द की कलम भारतीय जीवन के प्रधान अंग—अध्यात्म की ओर मुड़ी और उसी क्रम में 'कायाकल्प' का जन्म हुआ। उसमें पुनर्जन्म, सामुद्रिक विद्या, जड़ी-बूटियों के महत्त्व तथा योग एवं तन्त्र-मन्त्रविद्या के प्रति आस्था प्रकट की गई है। इसके साथ-साथ पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन के चित्रों का भी उसमें अभाव नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'निर्मला' नामक उपन्यास में बड़ी उम्र में विवाह करने के दुष्परिणामों के साथ-साथ उसकी प्रमुख नायिका--निर्मला के जीवन की विविध परिस्थितियों का उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमसाधना और कर्त्तव्यनिष्ठा का उत्कर्ष दिखलाया गया है। 'गबन' में लेखक ने स्त्रियों के आभूषण-प्रेम से उत्पन्न होनेवाले अनर्थों की ओर पाठकों का ध्यान तो आकृष्ट किया ही, साथ ही परिस्थतिवश मनुष्य किस प्रकार पतित होकर तिरस्कृत जीवन व्यतीत कर सकता है, इसका भी सफल चित्रण किया गया है। 'गोदान' में ग्रामीण एवं शहरी जीवन का अनुभूतिपूर्ण यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। उसमें एक ओर जहाँ ग्रामीणों के अभिशप्त जीवन का भयावह चित्रण है, तो दूसरी ओर शहरियों की आमोदप्रियता एवं वैभवपूर्ण विलासिता का भी रोमांचकारी वर्णन है। गाँव के लोगों की समस्त दिनचर्या--चाहे वह आनन्दमूलक हो या कष्टमूलक, उसका विशद चित्रण हुआ है। ग्राम्य चित्रण तो मुंशी प्रेमचन्द के लिए इतना प्रिय विषय रहा है कि उनकी अनेक कहानियों का भी मूल आधार वही बना रहा। इसमें लेखक की प्रखर प्रतिभा और विधायक कल्पना के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

इस प्रकार, मुंशी प्रेमचन्द ने मानव-मनोव्यथा का न केवल गहरा अनुभव किया, अपितु उसका सशक्त और निर्भीक चित्रण कर भारतीय विचारधारा को भी संवेदनशील मोड़ देकर एक नये युग की स्थापना की। उनका साहित्य निस्सन्देह शोषितों, पीडितों एवं उपेक्षितों के लिए कुरान, बाइबिल, गीता एवं गुरुग्रन्थ साहब बन गया। उनका साहित्य शाश्वत साहित्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो गया; क्योंकि वह भारतीय संस्कृति के मूल बीज--सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् की महद्भावना से सुरभित एवं प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की प्रियदर्शी लोकमंगल-भावना से अनुप्राणित है। वह यथार्थवादी है अवश्य, किन्तु आदर्श-समन्वित। यही कारण है कि मुंशी प्रेमचन्द विश्व-साहित्य के महामनीषियों में उज्ज्वल एवं शाश्वत ध्रुव नक्षत्र के समान परिदीप्त हैं।

△ व्याख्याता, हिन्दी-विभाग
म० म० महिला-महाविद्यालय
आरा (बिहार)

●

"जीवन किसी का दायी नहीं है। उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। कम-से-कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है; लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है।"

△ प्रेमचन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुंशी प्रेमचन्द : पत्रों के वातायन से*

△ प्रस्तुति : डॉ० राजाराम जैन

मुंशी प्रेमचन्द की, सम्पादकाचार्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ घनिष्ठ मैत्री थी। दोनों में समय-समय पत्रों का आदान-प्रदान होता रहता था। पं० चतुर्वेदीजी शब्दचित्र अंकित करने में जितने निपुण हैं, भावुक एवं सरलहृदय साहित्यकारों की हृद्‌गत भावनाओं की जानकारी प्राप्त करने की कला में भी उतने ही प्रवीण। साहित्यकारों को उकसा-उकसाकर उनके जीवन के रहस्यों को प्रकाशित करने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति से साहित्य-जगत् सुपरिचित ही है। अपनी इस कला द्वारा पत्रों के माध्यम से उन्होंने विश्व के महान् साहित्यकारों के जीवन की अनुभूतियों का अमूल्य संकलन किया है। उनके पास एतद्विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्र सुरक्षित हैं। इसी क्रम में, मुंशी प्रेमचन्द के साथ हुए उनके पत्राचार के कुछ अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रेमचन्द-साहित्य के अध्येताओं को प्रेमचन्द के विचारों एवं उनके कथा-साहित्य के वस्तुतथ्य को समझने में इनसे सहायता मिलेगी, ऐसा विश्वास है।

मुंशी प्रेमचन्द ने अपने जीवन के उद्देश्यों एवं आकांक्षाओं को व्यक्त करते हुए दिनांक ३-६-१९३० ई० को, श्रीचतुर्वेदीजी को एक पत्र लिखा था, जो आज भी उतना ही प्रेरक है, जितना कि ५२ वर्ष पूर्व। पत्र इस प्रकार है :

"मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हविस नहीं। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूं, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वे ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी, धनी, खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।"

---

* भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी द्वारा प्रकाशित (सन् १९५२ ई०) ग्रन्थ 'संस्मरण' (लेखक : पं० बनारसीदास चतुर्वेदी) में प्रकाशित 'स्वर्गीय प्रेमचन्दजी' नामक निबन्ध के आधार पर साभार संगृहीत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैभव एवं धन-सम्पत्ति का महत्ता, कला एवं बुद्धिमत्ता के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय में मुंशी प्रेमचन्द ने दिनांक १-१२-१९३५ ई० को, श्रीचतुर्वेदीजी को अँगरेजी में लिखित एक पत्र में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये थे :

"जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मगन हो, उसके महान् पुरुप होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ-पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार, किसी भी बड़े आदमी का नाम, जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो, मुझे आकृष्ट नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम से मोटी रकम जमा देखकर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता; लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।"

निन्दक और असहनशील व्यक्ति सच्चे साहित्यकार की कोटि में नहीं आ सकता। वह समाज को निश्चय ही स्वस्थ एवं निष्पक्ष साहित्य प्रदान नहीं कर सकता। सच्चे साहित्यकार को चाहिए कि वह निन्दकों की परवाह न कर निर्भीकतापूर्वक साहित्य-प्रणयन करे। अपने ये विचार व्यक्त करते हुए मुंशी प्रेमचन्द ने श्रीचतुर्वेदीजी को यह पत्र लिखा था :

"मैं स्वयं निन्दकों से घिरा हुआ हूँ, जो मुझपर हमला करने का कोई मौका नहीं चूकते। दुर्भाग्यवश, हमारे साहित्यकारों में न तो विचारों की व्यापकता—उदारता है और न सहयोग की भावना। हमारे यहाँ एक दल ऐसा पैदा हो गया है, जिसे दूसरों की, वर्षों के परिश्रम से अर्जित कीर्त्ति को मटियामेट करने में ही मजा आता है। हमें अपनी आत्मा को पवित्र रखना चाहिए और यही सबसे बड़ी बात है।.... लेकिन, जब कभी कोई किसी के उद्देश्य को ही कलुषित बताने लगता है, तब मामला गम्भीर हो जाता है। किसी के उद्देश्य पर शक करने को में किसी भी हालत मैं सहन नहीं कर सकता। निर्दोष छींटों की आपको परवाह नहीं करना चाहिए। यदि आप इतने असहनशील हो जायेंगे, तब तो आप निन्दकों को और भी उत्साहित करेंगे कि वे आपकी पीठ में काँटे चुभोयें। खिले हुए चेहरे से आप उन लोगों का सामना कीजिए। एक जमाना था, जब किसी अमित्रतापूर्ण हमले से मुझे कई-कई रात नींद नहीं आती थी, लेकिन वह जमाना गुजर चुका है और अब मैं अपने-आपको ज्यादा अच्छी तरह समझता हूँ।"

एक बार जापान के सुप्रसिद्ध कवि नागूची कलकत्ता पधारे, तो श्रीचतुर्वेदीजी की इच्छा मुंशी प्रेमचन्द को भी उनसे मिलाने की हुई। अतः, उन्होंने उन्हें कलकत्ता आने के लिए लिखा। इसके उत्तर में प्रेमचन्दजी ने उन्हें लिखा था :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"आपका कार्ड मिला। उसके लिए धन्यवाद! क्या ही अच्छा होता, यदि मैं कविवर नागूची के भाषण सुन पाता। पर, लाचारी है। घरवालों को यहाँ कैसे अकेला छोड़ दूँ, यही प्रश्न है। लड़के इलाहाबाद में हैं और यदि मैं बाहर चला जाऊँ, तो मेरी स्त्री को सूना-सूना-सा लगेगा। और, अगर मैं उन्हें साथ लाऊँ, तो खर्च के लिए मेरे पास काफ़ी पैसे चाहिए। इसलिए, आर्थिक संकट का सामना करने के बजाय यही उत्तमतर है कि मैं घर पर ही बँधा रहूँ।"

मुंशी प्रेमचन्द की धर्मपत्नी शिवरानी देवी के पास कलाई-घड़ी नहीं थी, तब श्रीचतुर्वेदीजी ने उन्हें कलाई-घड़ी खरीद देने के लिए आग्रह-भरा पत्र लिखा था। उसके उत्तर में प्रेमचन्द ने यह पत्र लिखा था :

"रही उनकी रिस्टवॉच की बात, सो जब कभी कोई उद्योगी पत्रकार उनकी रचनाओं के लिए पारिश्रमिक देना प्रारम्भ करेगा, तो वे खुद अपने लिए रिस्टवॉच खरीद लेंगी या शायद कोई उन्हें एक रिस्टवॉच भेंट ही कर दे।"

श्रीचतुर्वेदीजी की प्रेरणा एवं प्रेमचन्दजी की कहानियों की गुणवत्ता के कारण दीनबन्धु सी० एफ्० एण्ड्रूज प्रेमचन्द की कहानियों के अँगरेजी-अनुवाद का संशोधन कर उन्हें प्रकाशित कराना चाहते थे। उनकी 'तारा' नामक एक कहानी के अँगरेजी-अनुवाद--'एक्ट्रेस' का उन्होंने संशोधन किया भी था, जो 'मॉडर्न रिव्यू' में छपी थी। श्रीचतुर्वेदीजी के एक पत्र के उत्तर में उन्होंने अँगरेजी में यह पत्र लिखा था :

"आपके पत्र के लिए और आप मेरी रचनाओं में जो दिलचस्पी लेते हैं, उसके लिए मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, लेकिन जबतक कि मुझे कोई सुयोग्य अनुवादक न मिल जाय, तबतक पादरी ऐण्ड्रूज साहब को व्यर्थ के लिए तकलीफ देना ठीक न होगा। शायद अभी इसके लिए वक्त ही नहीं आया और जब कभी वक्त आयेगा, तो मददगार भी कहीं-न-कहीं से निकल ही आयेंगे।"

एक बार किसी कटु-प्रसंगवश मुंशी प्रेमचन्द ने किसी साहित्यकार के प्रति कुछ कठोर शब्दों का प्रयोग कर दिया। श्रीचतुर्वेदीजी ने उन्हें ऐसे शब्दों के प्रयोग न करने की सलाह दी। उसके उत्तर में उन्होंने अँगरेजी में यह पत्र लिखा था :

"आपकी अत्यन्त मित्रतापूर्ण सलाह के लिए मैं आपका दरअसल कृतज्ञ हूँ। उस व्यक्ति के प्रति मेरे हृदय में कोई द्वेष नहीं है, बल्कि मैं उसके लिए दुःखी हूँ। पर, मुश्किल तो यह है कि हिन्दी-पाठक इतने उथले हैं और सदसद्विवेक-बुद्धि की उनमें इतनी कमी है कि जो कुछ उनके कानों में कोई डाल दे, वे उसी पर विश्वास करने के लिए तैयार हो जाते हैं। हिन्दी-पाठकों को तो यह निरन्तर बतलाने की जरूरत है कि सत्य क्या है, लेकिन भविष्य में मैं अधिक संयम से काम लूँगा।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी एवं उर्दू-लेखकों के विषय में प्रेमचन्द के जो अनुभव थे, उन्हें उन्होंने श्रीचतुर्वेदीजी को लिखित एक पत्र के अँगरेजी-उत्तर में इस प्रकार व्यक्त किये थे :

"उर्दू-लेखकों ने तो मेरे निमन्त्रण का तुरन्त ही और विनम्रतापूर्वक जवाब दिया है, लेकिन जो बहुत-सी चिट्ठियाँ मैंने हिन्दी के महारथियों की सेवा में भेजी थीं, उनमें बहुत कम के जवाब आये हैं। अकेले बाबू मैथिलीशरणजी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने उत्तर दिया है, दूसरों ने तो चिट्ठी की स्वीकृति भी नहीं लिखी। हमारे हिन्दी-लेखकों की यही मनोवृत्ति है।"

'हंस' एवं 'जागरण' के प्रकाशन में प्रेमचन्द को निरन्तर घाटा सहना पड़ा था। अपनी इस मनोव्यथा को उन्होंने श्रीचतुर्वेदीजी को लिखित एक अँगरेजी-पत्र में इस प्रकार व्यक्त किया था :

"खेद की बात है कि मेरा कोई भी प्रयत्न अबतक स्वावलम्बी नहीं हो सका। 'हंस' में मुझे बहुत नहीं खर्च करना पड़ता, लेकिन 'जागरण' का बोझ असह्य हो रहा है। इस झंझट से निकला कैसे जाय, इसी चिन्ता में दिमाग चक्कर खा रहा है। मैं करीबन २०० प्रतिमास घाटा दे रहा हूँ। यह कबतक चल सकता है? एक बार इसे जारी करने की मूर्खता कर चुकने के बाद अब इसका खात्मा करने में मेरी सुबुद्धि बाधक होती है। अन्य लोग इसपर कैसे हँसेंगे और खिल्ली उड़ायेंगे?.... यदि मुझमें इन दोनों पत्रों को बन्द कर देने की हिम्मत होती, तो मैं इन तमाम परेशानियों से बच जाता, लेकिन मैं इतनी हिम्मत इकट्ठी नहीं कर पाता।"

उक्त पत्र ने श्रीचतुर्वेदीजी को मर्माहत कर दिया था और उसी से व्यथित होकर उन्होंने 'विशाल भारत' की सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा था :

"प्रेमचन्द को अपनी पुस्तकों से जो आमदनी होती है, उसका एक अच्छा भाग 'हंस' एवं 'जागरण' के घाटे में चला जाता है। कितने ही पाठकों का यह अनुमान होगा कि प्रेमचन्दजी अपने ग्रन्थों के कारण धनवान् हो गये होंगे, पर यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है। हिन्दीवालों के लिए सचमुच यह कलंक की बात है कि उन जैसे सर्वश्रेष्ठ कलाकार को आर्थिक संकट बना रहता है। सम्भवतः, इसमें कुछ दोष प्रेमचन्दजी का भी है, जो अपनी प्रबन्ध-शक्ति के लिए प्रसिद्ध नहीं और जिनके व्यक्तित्व में वह लौह-दृढता भी नहीं, जो उन्हें साधारण कोटि के आदमियों के शिकार बनने से बचा सके। कुछ भी हो, पर हिन्दी-जनता अपने अपराध से मुक्त नहीं हो सकती। हमें इस बात की आशंका है कि आगे चलकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक को कहीं यह न लिखना पड़े—'दैव ने हिन्दीवालों को एक उत्तम कलाकार दिया था, जिसका उचित सम्मान वे न कर सके।'"

उक्त पंक्तियाँ जनवरी, १९३२ ई० में लिखी गई थीं। दुर्भाग्यवश, वे अब सत्य प्रमाणित हो रही हैं!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और मुंशी प्रेमचन्द के कतिपय प्रश्नोत्तर*

प्रश्न : आपने गल्प लिखना कब प्रारम्भ किया था ?

उत्तर : मैंने सन् १९०७ ई० में गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले सन् १९०८ ई० में मेरा **'सोजे वतन'**, जो पाँच कहानियों का संग्रह है, जमाना प्रेस से निकला था, पर उसे हमीरपुर (उत्तरप्रदेश) के कलक्टर ने मुझसे लेकर जला डाला था। उनके खयाल में वह विद्रोहात्मक था, हालाँकि तबसे उसका अनुवाद कई संग्रहों और पत्रिकाओं में निकल चुका है।

प्रश्न : आपके सर्वोत्तम पन्द्रह गल्प कौन-कौन हैं ?

उत्तर : इस प्रश्न का जवाब देना कठिन है। दो सौ से ऊपर गल्पों में कहाँतक चुनूँ, लेकिन स्मृति से काम लेकर लिखता हूँ : १. बड़े घर की बेटी, २. रानी सारन्धा, ३. नमक का दरोगा, ४ सौत, ५. आभूषण, ६. प्रायश्चित्त, ७. कामना, ८. मन्दिर और मस्जिद, ९. घासवाली, १०. महातीर्थ, ११. सत्याग्रह, १२. लांछन, १३. सती, १४. लैला और १५. मन्त्र।

प्रश्न : आपपर किस लेखक की शैली का प्रभाव विशेष पड़ा ?

उत्तर : मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ पं० रतननाथदर लखनवी और कुछ-कुछ कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का असर पड़ा है।

प्रश्न : आपको अपनी रचनाओं से अबतक कितनी आय हुई है ?

उत्तर : आय की कुछ न पूछिए। पहलकी सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। **'प्रेमपचीसी'**, **'सेवासदन'**, **'सप्तसरोज'**, **'प्रेमाश्रम'**, **'संग्राम'** आदि के लिए एक मुश्त तीन हजार रुपये हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी ने दिये। **'नवनिधि'** के लिए शायद अबतक दो सौ रुपये मिले हैं। **'रंगभूमि'** के लिए अट्ठारह सौ रुपये दुलारेलालजी ने दिये। और संग्रहों के लिए सौ-दो सौ मिल गये। **'कायाकल्प'**, **'आजादकथा'**, **'प्रेमतीर्थ'**, **'प्रेमप्रतिमा'**, और **'प्रतिज्ञा'** मैंने खुद छापी, पर अभी तक मुश्किल से छह सौ रुपये वसूल हुए हैं और प्रतियाँ पड़ी हुई हैं। लेखों से फुटकर आमदनी शायद पच्चीस रुपये माहवार हो जाती हो, मगर इतनी भी नहीं होती। मैं अब **'हंस'** और **'माधुरी'** के सिवा कहीं लिखता ही नहीं। कभी-कभी **'विशाल भारत'** और **'सरस्वती'** में लिखता हूँ। बस, उर्दू-अनुवादों से भी अबतक शायद दो हजार से अधिक न मिला होगा। आठ सौ रुपये में **'रंगभूमि'** और **'प्रेमाश्रम'** दोनों का अनुवाद दे दिया था। कोई छापनेवाला ही न मिलता था।

△ प्राकृत-संस्कृत-विभागाध्यक्ष
एच्० डी० जैन कॉलेज, आरा (बिहार)

* भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी द्वारा प्रकाशित (सन् १९५२ ई०) 'संस्मरण' नामक ग्रन्थ से साभार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्र : प्रतिक्रियाएँ

आदरणीय सम्पादकजी,

आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा के तत्त्वावधान में प्रकाशित गवेषणा-प्रधान-पत्रिका 'शोध' का प्रथम अंक मिला। इसके लिए धन्यवाद और इस प्रकार की उपयोगी शोधपरक पत्रिका प्रकाशित करने के लिए बधाई! लगभग ८० वर्ष पुरानी आरा की साहित्य-संस्था नागरी-प्रचारिणी-सभा को पत्रिका के माध्यम से पुनरुज्जीवित कर वहाँ के हिन्दी-प्रेमी बुद्धिजीवियों ने निश्चय ही एक ऐतिहासिक कार्य किया है। सभा के संस्थापकों की आत्मा प्रसन्न हुई होगी। सभा की आगामी योजनाओं के अन्तर्गत आपने जो उपयोगी कार्यक्रम रखे हैं, वे उसके नाम को निःसन्देह यशस्वी, सार्थक और महत्त्वपूर्ण बनायेंगे। आज की विषम स्थिति में जब कि हिन्दी की सभी पुरानी साहित्य-संस्थाएँ राजनीति से पराभूत होकर निष्प्राण हो गई हैं और राजनीति, जाति-पाँति और गुटबन्दी के अखाड़े बन गई हैं, आपकी सभा का पुनर्जागरण और उसके कार्य उनके लिए मार्गदर्शक का काम करेगा। हिन्दी जनता के बल पर खड़ी हुई है और उसका निरन्तर विकास होता रहा है। इसलिए, उसे सरकार के आश्रय से अधिक स्वतन्त्र जनमत का बल मिलना चाहिए। सभा के सारे कार्यक्रमों को पूरा करने में जनसहयोग ही अधिक मिलना चाहिए। जबतक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, नागरी-प्रचारिणी-सभा (काशी) जैसी हिन्दी-सेवी-संस्थाएँ स्वतन्त्र होकर और आत्मनिर्भर रहकर कार्य करती रहीं, हिन्दी की सेवा देश की सेवा मानकर करती रहीं, इनके कार्यकलाप निर्विघ्न चलते रहे, पर ज्यों-ज्यों ये सरकारी अनुदान, पुरस्कार और साहाय्य पर परालम्बित होने लगीं, त्यों-त्यों सेवाभाव समाप्त होने लगा और निहित स्वार्थ तेजी से पनपने लगे। आपकी सभा एक यशस्वी संस्था रही है। इसके पुराने संस्थापकों, सहयोगियों और कार्यकर्त्ताओं ने साहित्य-सेवा की जो शानदार परम्परा अपने पीछे छोड़ी है, उसके पदचिह्नों पर चलकर ही सभा का चतुर्दिक् विकास हो सकेगा, ऐसा विश्वास है। यह प्रसन्नता की बात है कि आरा नगर में साहित्य का नवजागरण आया है, नई उमंग और नये उत्साह की लहर आई है। इसकी पुंजीभूत शक्ति का यदि समय पर सदुपयोग किया गया, तो सभा के सारे कार्यक्रमों को शीघ्र ही व्यावहारिक रूप दिया जा सकेगा।

आपने 'सम्पादकीय टिप्पणी' में राष्ट्रलिपि की आवश्यकता पर बल दिया है। किन्तु, मुझे लगता है कि आज लिपि से अधिक हिन्दी-भाषा संकटग्रस्त है। भिन्न-भिन्न राज्यों में हिन्दी के अन्तर्गत बोली जानेवाली विभिन्न बोलियाँ हिन्दी के कुछ दिग्भ्रान्त भाषावैज्ञानिकों का ग़लत प्रमाणपत्र लेकर हिन्दी से अलग अपना स्वतन्त्र अस्तित्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनाने की कोशिश में आन्दोलन का मार्ग अपना रही हैं। यह राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए एक बड़ा भयानक खतरा है। बोलियों पर अनुसन्धान होना चाहिए, उसके विस्मृत साहित्य का उद्धार होना चाहिए, उनकी शब्द-सम्पदा का उपयोग हिन्दी-कोशों और रचनाओं में अवश्य होना चाहिए, लेकिन राष्ट्रभाषा से उनका सीधा टकराव नहीं होना चाहिए। किन्तु, खेद है कि आज हिन्दी-राज्यों में ही भाषिक विशृंखलता, उत्तेजना और बिखराव की स्थिति अधिक गहरी होती जा रही है। इससे ऊपर उठना होगा और यह मानकर चलना होगा कि जिस तरह देश से बड़ा कोई राज्य नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी से अधिक बड़ी कोई जनपदीय बोली नहीं है। हिन्दी एक राष्ट्रीय भावना है, जो भारतमाता के भाल की चमकती बिन्दी है। खुशी की बात है कि आपकी पत्रिका इस प्रकार की संकीर्ण भावनाओं से आक्रान्त नहीं है।

'शोध' की सारी सामग्री शोधमूलक, ठोस, उपयोगी और संग्रहणीय है। सभी निबन्धों को पढ़कर मैं लाभान्वित हुआ हूँ। इसका प्रकाशन कर आपने बड़े सामयिक महत्त्व का कार्य किया है। काश, इस प्रकार की पत्रिका बिहार के सभी बड़े नगरों से प्रकाशित होती, ताकि हर स्थान की नई-पुरानी साहित्यिक प्रतिभाएँ प्रकाश में आतीं। मैं आपकी पत्रिका 'शोध' के प्रथमांक का स्वागत करता हूँ। ईश्वर करे, यह दीर्घायु हो! आप हमारे विभाग को पत्रिका का सदस्य बना लें।

△ अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
मगध-विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार) } △ वासुदेवनन्दन प्रसाद

"स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जडता का वह परदा नहीं होता, जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और, अगर हम यथार्थ को हू-ब-हू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका मापदण्ड भी जीवन के मापदण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उसी समय हो जाता है, जब वह वांछनीय नहीं होता।"

△ प्रेमचन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धार्पण :

तीन मूर्द्धन्य विद्वानों का महाप्रस्थान !

साहित्य-जगत् के तीन मूर्द्धन्य विद्वान् एवं लेखक हमारे बीच से उठ गये ! उन महामनीषियों के नाम हैं : पं० के० भुजबलि शास्त्री, श्री भगवतीचरण वर्मा एवं पं० किशोरीदास वाजपेयी।

[१]

पं० के० भुजबलि शास्त्री

पं० के० भुजबलि शास्त्री कन्नड एवं हिन्दी-भोजपुरी के बीच की एक प्रमुख कड़ी के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। उनका जन्म कर्नाटक-प्रान्त के 'काशी' कहे जानेवाले नगर 'मूलविद्री' में सन् १८९७ ई० में हुआ था। भारत-विख्यात शोध-संस्थान 'जैन सिद्धान्त-भवन' (आरा : विहार) के अपूर्व प्राच्यशास्त्र-भाण्डार की सारस्वत समृद्धि ने उन्हें इतना अधिक आकृष्ट किया कि वे सन् १९२३ ई० में उसके ग्रन्थालयाध्यक्ष होकर वहाँ आये और आरा की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना से प्रभावित होकर आरावासी ही बन गये।

पं० भुजबलिजी कन्नड-भाषा के पारंगत विद्वान् होने के साथ-साथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी के भी निष्णात विद्वान् थे। सम्भवतः, वे अपनी कोटि के प्रथम समीक्षक-लेखक थे, जिन्होंने हिन्दी-जगत् को जैन एवं जैनेतर कन्नड-साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्त्व का हिन्दी के माध्यम से परिचय कराया। सन् १९२४ ई० से वे प्राच्यविद्या की प्रमुख शोध-पत्रिका 'जैन सिद्धान्त-भास्कर' एवं 'जैन-ऐण्टिक्वेरी' के सम्पादक रहे और उन दोनों पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने विविध-विषयक लगभग डेढ़ सौ शोध-निबन्ध लिखे। इनके अतिरिक्त, उन्होंने 'जैन सिद्धान्त-भवन' में सुरक्षित सहस्रों हस्तलिखित अप्रकाशित कन्नड-तालपोथियों की विवरणात्मक सूचियाँ तैयार कर शोध-जगत् के लिए विशिष्ट अध्येतव्य सामग्री सर्वसुलभ की। उनके इन श्रमसाध्य, अपूर्व सारस्वत कार्यों ने न केवल बिहार, अपितु समस्त दक्षिण भारतीयों के मन में अपना विशेष आदरपूर्ण स्थान बना लिया। दक्षिण भारत के अनेक विश्वविद्यालयों को उन्होंने ही अपने उक्त शोधकार्यों से आकृष्ट किया, जिसके कारण आज भी वहाँ से विभिन्न शोधार्थी सन्दर्भ-सामग्री के अनुशीलनार्थ आरा के उक्त संस्थान में आते रहते हैं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के इस हिन्दीतर-भाषी सेवक की साहित्य-साधना से प्रभावित होकर 'भारतधर्म-महामण्डल', काशी ने सन् १९३८ ई० में उन्हें 'विद्याभूषण' तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'जैन सिद्धान्त-भवन', आरा ने अपनी हीरक-जयन्ती के उत्सव के समय, सन् १९६३ ई० में, 'सिद्धान्ताचार्य' की मानद उपाधि से विभूषित किया था।

पण्डितजी कुछ पारिवारिक कारणों से सन् १९४४ ई० में अपनी जन्मभूमि लौट गये। वहाँ भी उन्होंने सन् १९४४ से १९४६ ई० तक भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली की मूलविद्री-स्थित कन्नड-शाखा के अध्यक्ष के रूप में कार्य किया तथा सन् १९४७ से १९६८ ई० तक वे कर्नाटक-विश्वविद्यालय, धारवाड़ के अनुसन्धान-विभाग में कार्यरत रहे। तत्पश्चात् वे स्वतन्त्र रूप में साहित्य-सेवा करते रहे।

सन् १९८० ई० के १५ अक्टूबर को, लम्बी बीमारी के बाद, उनका दुःखद देहावसान अपनी जन्मस्थली में हो गया! 'शोध'-परिवार दिवंगत पण्डितजी की उज्ज्वलतम आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा निवेदित करता है तथा उनके शोक-सन्तप्त परिवार के प्रति गहरी समवेदना प्रकट करता है।

०

[२]

श्रीभगवतीचरण वर्मा

सन् १९८१ ई० के ५ अक्टूबर की सन्ध्या, साहित्य-जगत् के लिए बराबर सन्तापकारिणी बनी रहेगी; क्योंकि उसी सन्ध्या में हिन्दी के प्रख्यात कथाकार श्रीभगवतीचरण वर्मा ने अपनी ऐहिक लीला समेट ली! उनके यशस्वी जीवन की नींव उनके प्रारम्भिक मानसिक द्वन्द्वों, संघर्षों एवं असफलताओं से संवलित होकर सुदृढ बनी। उन्होंने दर-दर की ठोकरें खाईं, किन्तु भयावह विषमताओं के बीच भी अपने मनोबल को गिरने नहीं दिया और वे हमेशा मस्त बने रहे। उनके शाश्वतिक मूल्य की विशाल साहित्य-साधना का यही सबसे बड़ा रहस्य है।

भगवती बाबू ने अनेक कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास एवं काव्य लिखे, जिनमें सन् १९२८ से १९७४ ई० तक की उनकी लौकिक अनुभूतियों का मर्मस्पर्शी चित्रण उपलब्ध होता है। उनकी इस साधना से प्रभावित होकर भारत-सरकार ने सन् १९७१ ई० में उन्हें 'पद्मविभूषण' की मानद उपाधि से अलंकृत किया था।

कहते हैं, उनकी सद्योलिखित दो कृतियाँ अद्यावधि अप्रकाशित हैं—'दहुआ हमहिं ये विपदा दीन' तथा 'चाणक्य'। ये रचनाएँ, उनके जीवन की विविध अनुभूतियों से प्रौढ लेखनी द्वारा लिखित होने के कारण निश्चय ही ऐतिहासिक एवं अभूतपूर्व होंगी। स्वतन्त्र प्रकाशन-संस्थाओं अथवा भारत-सरकार के लिए आवश्यक है कि उन कृतियों के प्रकाशन की यथाशीघ्र व्यवस्था की जाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैसे तो भगवती बाबू की सभी रचनाएँ रससिक्त एवं हिन्दी-साहित्य के गौरव को चार चाँद लगा देनेवाली हैं, किन्तु उनके 'चित्रलेखा' उपन्यास का अपना विशिष्ट स्थान है। लेखक ने उसे अनातोले फ्रांस की रचना 'थाया' से प्रभावित होकर लिखने का संकेत किया है। इन पंक्तियों के लेखक का दृढ विश्वास है कि उक्त 'थाया' पर प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत-साहित्य में वर्णित पाटलिपुत्र की एक प्रधान गणिका कोशा के जीवन-वृत्त का स्पष्ट प्रभाव है। कोशा अपने समय की, मगध की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, तथा मगध के नन्दनरेश के मन्त्री शकटाल के पुत्र स्थूलिभद्र की वह समर्पित प्रेमिका थी, इसके अनेक प्रमाण हैं। प्राचीन काल में संस्कृत एवं प्राकृत की अनेक कथाओं ने भारतीय व्यापारियों के साथ विदेश-यात्राएँ की हैं; बहुत सम्भव है कि उसी क्रम में गणिका कोशा की कथा भी विदेश पहुँची हो और परवर्त्ती कालों में वहाँ लोककथा का रूप धारण कर लिया हो और उसी से प्रभावित होकर ही 'थाया' का प्रणयन किया गया हो। इस कारण, प्रकारान्तर से भगवती बाबू की 'चित्रलेखा' को भी उक्त 'कोशा' से प्रभावित माना जा सकता है।

भगवती बाबू इस युग के जीवन्त साहित्यकार थे। उनके स्वर्गवास से न केवल माँ भारती की गोद सूनी हुई है, अपितु नवोदित कलाकारों का विशिष्ट प्रेरणास्रोत ही सूख गया। दिवंगत भगवती बाबू की दिव्य आत्मा की स्मृति में 'शोध'-परिवार नतमस्तक है तथा उनके शोक-सन्तप्त परिवार के प्रति अपनी गहरी समानुभूति व्यक्त करता है।

o

[३]

पं० किशोरीदास वाजपेयी

अपने अगाध ज्ञानबल से सरस्वती को भी चुनौती दे देनेवाले साहित्यकारों की परम्परा का निर्वाह पं० किशोरीदास वाजपेयी ने अक्षुण्ण रूप से किया, यह उनके जीवन-वृत्त से स्पष्ट है। वे निरपेक्ष वृत्ति द्वारा सरस्वती की आराधना में समर्पित भाव से आकण्ठ निमग्न रहे और समाज की उपेक्षा एवं अभावों के कारण जीवन में टूटते भले ही रहे, किन्तु अपने स्वीकृत सिद्धान्तों के विपरीत समझौते के लिए कभी झुके नहीं। हार्दिक खेद है कि हिन्दी के दुर्भाग्य से सन् १९८१ ई० के १२ अक्टूबर को वह अन्तिम कड़ी भी टूट गई!

पुण्यश्लोक वाजपेयीजी हिन्दी-भाषा के अनुशासन के लिए महर्षि पाणिनि के रूप में अवतीर्ण हुए। यद्यपि उन्हें किसी विद्यालय या महाविद्यालय में विधिवत् उच्च अध्ययन का अवसर नहीं मिला, तथापि व्याकरण जैसे नीरस, दुरूह एवं कर्कश विषय पर अभूतपूर्व सफल कार्य करना आश्चर्य एवं चमत्कार का ही विषय माना जायगा। उन्होंने अपनी सुदृढ इच्छा, महान् स्वाध्याय, विस्तृत मनन और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिन्तन के बल पर, कनखल की पावन-भूमि में अभावों एवं उपेक्षाओं की साँस लेते हुए भी वह कार्य कर दिखाया, जो शताब्दियों से नहीं हो पाया था तथा विविध सुविधा-सम्पन्न विद्वान् प्रयत्न करने पर भी जो कार्य नहीं कर सके थे। उनके हिन्दी-भाषा के सर्वप्रथम वैज्ञानिक व्याकरण के लिए न केवल कानपुर से कनखल तक की पुण्यभूमि गौरवान्वित है, अपितु सरस्वती के लाड़ले पुत्र किशोरीदासजी की कठोर साधना के प्रति समस्त साहित्य-जगत् गौरव का अनुभव कर, उनके प्रति श्रद्धानत है।

बाजपेयीजी ने भले ही व्याकरण एवं भाषाविज्ञान पर स्वतन्त्र चिन्तन एवं लेखन किया हो, किन्तु उनकी गति भारतीय विद्या के अन्य दुरूह विषयों में भी अबाध थी। सन् १९७० ई० में, जबलपुर-विश्वविद्यालय के निमन्त्रण पर उन्होंने वहाँ 'काव्य एवं काव्यशास्त्र' पर अपने तीन भाषण किये थे, जिनसे उनके तद्विषयक मौलिक एवं गम्भीर पाण्डित्य का भी पता चलता है।

आज महाप्राज्ञ बाजपेयीजी हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनका स्वाभिमानी आदर्श जीवन और निरासक्त रूप से की गई साहित्य-साधना की भावना हमारे सम्मुख है, जो हमें प्रेरणा देती रहेगी। 'शोध'-परिवार दिवंगत बाजपेयीजी की महीयसी आत्मा के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धा निवेदित करता है।

△ डॉ० रा० जैन

सभा के दो स्तम्भ अब नहीं रहे !

श्रीब्रजकिशोर बहादुर और श्रीशिवपूजन सहाय दोनों आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के सबल स्तम्भ थे। हार्दिक दुःख है, महाकाल ने इन दोनों को अचानक ही उठा लिया! ये दोनों सभा के अतिरिक्त, अनेक साहित्यिक-सामाजिक संस्थाओं से सम्बद्ध थे। श्रीबहादुर 'रोटेरियन' थे, तो श्रीसहाय प्रसिद्ध अधिवक्ता तथा आरा लॉ कॉलेज के योग्य प्राचार्य थे। दोनों वास्तव में अतिशय भद्र मानव और मिलनसार व्यक्ति थे। सचमुच ही, इन दोनों व्यक्तियों के निधन से आरा के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में जो रिक्तता आई है, वह अपूरणीय है। हम इन दोनों के लोकान्तरण से अत्यन्त दु:खी हैं। 'शोध'-परिवार इन दोनों दिवंगत महानुभावों की महान् आत्माओं के प्रति नतमस्तक हो अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

△ ब० प्र० भोजपुरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के संरक्षक सदस्य

सर्वश्री जगजीवन राम (भू० पू० उप-प्रधानमन्त्री, भारत-सरकार); घनश्यामदास बिड़ला (बम्बई); द्वारिकाप्रसाद मिश्र (भू० पू० मुख्यमन्त्री, मध्यप्रदेश-शासन, जबलपुर); कमल सिंह (भू० पू० डुमराँव-नरेश), डुमराँव (भोजपुर); डॉ० शार्ङ्गधर सिन्हा (भू० पू० कुलपति, राँची-विश्वविद्यालय); साहू शान्तिप्रसाद जैन (अब स्वर्गीय); एम्० एस्० अणे (भू० पू० राज्यपाल, बिहार : अब स्वर्गीय) आचार्य बदरीनाथ वर्मा (भू० पू० शिक्षामन्त्री, बिहार : अब स्वर्गीय); जगदीशचन्द्र माथुर, आइ० सी० एस्० (भू० पू० शिक्षा-सचिव, बिहार-सरकार : अब स्वर्गीय); कुमार तारानन्द सिंह, बनैली (पूर्णिया); कुमार कृष्णानन्द सिंह, सुलतानगंज (भागलपुर); सत्यदेवप्रकाश सिन्हा, एडवर्ड कोठी (आरा); मूलचन्द्र अग्रवाल, कलकत्ता (अब स्वर्गीय) एवं गोपाल नेवटिया [संरक्षक, मासिक 'नवनीत' (हिन्दी डाइजेस्ट), बम्बई : अब स्वर्गीय]।

o

सभा की वर्त्तमान प्रबन्धकारिणी समिति

सभापति : सर्वश्री डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी; उप-सभापति : १. रिक्त; २. नरेन्द्रबहादुर सिंह; सचिव : रणजीत बहादुर (एम्० एल्० सी०); संयुक्त सचिव : रिक्त; उप-सचिव : १. नरेन्द्र भूपबहादुर; २. डॉ० राजाराम जैन; सदस्य : १. डॉ० मुरलीमनोहर प्रसाद; २. हृदयेश्वरनारायण अग्रवाल; ३. सुबोधकुमार जैन; ४. जुगलकिशोर जैन; ५. प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी; ६. गजेन्द्रभूप बहादुर; ७. मुखराम सिंह; ८. प्रदीपचन्द्र जैन; ९. सुरेन्द्रनारायण सिंह; १०. सच्चिदानन्द सहाय; ११. रघुनाथ केशरी; १२. सुनीलकुमार सिन्हा; १३. एस्० पी० देशमुख एवं १४. अध्यक्ष, नगरपालिका (पदेन)।

आरा-नागरी प्रचारिणी जिला केन्द्रीय पुस्तकालय के सदस्य

बिहार-सरकार द्वारा मनोनीत :

१. अध्यक्ष : जिलाधीश, भोजपुर (पदेन); २. सदस्य : जिला-शिक्षा-पदाधिकारी, भोजपुर (पदेन); ३. जिला-विकास-पदाधिकारी, भोजपुर (पदेन); ४. प्राचार्य, राजकीय कन्या उच्चतर, माध्यमिक विद्यालय, आरा (पदेन); ५. श्रीअनिलकुमार, आरा।

नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा मनोनीत :

६. डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी; ७. श्री एस्० पी० देशमुख; ८. डॉ० मुरलीमनोहर प्रसाद; ९. प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी; १०. श्रीरणजीत बहादुर (एम्० एल्० सी०) ११. श्रीगजेन्द्र भूपबहादुर; १२. श्रीप्रदीपचन्द्र जैन; १३. प्रो० तलहा रिजवी; १४. डॉ० राजाराम जैन एवं १५. रिक्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3464

'शोध' : नियम और उद्देश्य

●

'शोध' आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की गवेषणा-प्रधान पत्रिका है। इसमें उच्च कोटि के अनुसन्धानपरक तथा आलोचनात्मक निबन्धों के साथ-साथ जनपदीय भाषा, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति-सम्बन्धी सामग्री का विशेष रूप से प्रकाशन होता है।

'शोध' का उद्देश्य है प्रादेशिक लोकभाषाओं एवं लिपियों का हिन्दी एवं नागरी में प्रचार।

'शोध' में नवीन प्रकाशनों की समीक्षाओं, ना० प्र० स० की गति-विधियों तथा अन्य साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श प्रस्तुत किया जाता है।

'शोध' में प्रकाशित निबन्धों में व्यक्त किये गये विचारों का उत्तर-दायित्व निबन्ध लेखकों का है, सम्पादक अथवा 'सभा' का नहीं।

'शोध' में प्रकाशनार्थ प्राप्त सामग्री के सम्पादन तथा उसे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक के अधीन रहेगा।

●

प्रकाशक : रणजीत बहादुर एम्० एल्० सी०; प्रधानमन्त्री, नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा-८०२३०१ (भोजपुर : बिहार)

मुद्रक : रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, लंगरटोली, पटना—८००००४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi